K. Mishra
3.

प्रियवर पं. लालजीराम शुक्ल को
सस्नेह -
सीताराम चतुर्वेदी
११.८.'५५

मानस-शास्त्र और समाज

अथवा

सामाजिक मनोविज्ञान

लेखक

आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

एम्० ए० [हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति], बी० टी०,
एल्-एल् बी०, साहित्याचार्य

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य कुटीर

बनारस

प्रथमावृत्ति] संवत् २०१२ वि० [मूल्य ३)

मुद्रक
दुर्गा प्रेस
१८/२०, आदिविश्वेश्वर, बनारस

सम्भाषा

भारतमें अन्य देशोंके समान मानसशास्त्रकी आवश्यकता और परिधि बढ़ती चली जा रही है। सामाजिक होनेके नाते और स्वतन्त्र होनेके नाते हमारा धर्म है कि हम सामाजिक मानसशास्त्रके उन सब पक्षोंपर भले प्रकार विचार करें जिनके कारण हम अपने देश और समाजको अत्यन्त समुन्नत कर सकें।

पिछले अनेक वर्षोंसे बी० ए० और एम्० ए० के अनेक विद्यार्थी मुझसे मानस-शास्त्र पढ़ने आते रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी यह समस्या रही है कि हिन्दीमें उत्तर लिखनेकी सुविधा तो उन्हें विश्वविद्यालयोंकी ओरसे मिल गई थी किन्तु सामाजिक मानस-शास्त्रपर हिन्दीमें पुस्तकोंका नितान्त अभाव था। जो पुस्तकें लिखी भी गईं वे इतनी क्लिष्ट और जटिल सिद्ध [illegible] समझना सबके लिये कठिन भी बना रहा। अँगरेजीमें भी जो [illegible] वे अस्पष्ट और दुरूह हैं तथा उनमें भारतीय दृष्टिकोणका पू[illegible] अतः अपनी प्रिय शिष्या तथा मथुराके किशोरीरमण कन्या महा[illegible] आचार्या कुमारी गायत्री गुप्ता, एम्० ए०, बी० टी० की विशे[illegible] छात्रों और अध्यापकों दोनोंकी दृष्टिसे हमने 'सामाजिक मानस [illegible] विभिन्न पक्षोंको यथासंभव स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत करनेका प्रयत्न कि[illegible] यह संभव है कि जो बात हमें स्पष्ट प्रतीत होती हो वह किसी छा[illegible] अध्यापकको स्पष्ट न प्रतीत होती हो। अतः हम इस पुस्तकका [illegible]

करनेवाले प्रत्येक सज्जनसे अनुरोध करते हैं कि वे ऐसे सभी स्थलोंका विवरण लिख भेजें जिन्हें समझनेमें उन्हें कठिनाई हो, जिससे हम आगेके संस्करणोंमें यथोचित सुधार कर सकें ।

मानसशास्त्रियोंने अपनी मानसशास्त्रकी पुस्तकोंमें जिस शब्दावलीका प्रयोग किया है उससे कुछ अंशोंमें असहमत होनेके कारण हमारी शब्दावली कुछ भिन्न हो गई है, इसलिये हमने स्थान-स्थानपर ऐसे शब्दोंके अँगरेजी पर्याय दे दिए हैं जिससे उस विषयको समझनेमें किसीको कठिनाई न हो । मनकी विभिन्न क्रियाओंके विश्लेषणका कार्य वास्तवमें शास्त्र है, विज्ञान नहीं । इसलिये हमने प्रचलित भ्रामक शब्द 'मनोविज्ञान'का प्रयोग न करके मानस-शास्त्रका प्रयोग किया है। हमने यथास्थान सभी पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या भी दे दी है, फिर भी यदि कहीं छूट गई हो या किसीको सन्देह हो तो उसका निराकरण करनेमें हमें प्रसन्नता होगी ।

मानस-शास्त्रपर अँगरेजी, जर्मन तथा फ्रांसीसी भाषाओंमें जो ग्रन्थ लिखे गए हैं उनका हमने पूर्ण उपयोग किया है अतः उन सभी लेखकोंके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। जहाँ हमने उनके कुछ अंश उद्धृत किए हैं वहाँ उनका उल्लेख भी कर दिया गया है किन्तु यदि कोई स्थल छूट गया हो तो इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं ।

उत्तर बेनिया बाग,
काशी ।

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-ग्राम



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

मानस-शास्त्र और समाज

१

मानस-शास्त्रके सामाजिक पक्षकी परिधि

मानस-शास्त्रका प्रचार और प्रसार सभी देशोंमें इतने अधिक वेगसे हुआ है कि आजके मानव-जीवनका कोई भी पक्ष उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। प्रारम्भमें तो मानस-शास्त्रका प्रचार व्यक्तिगत दृष्टिसे किया जाता था अर्थात् अलग-अलग व्यक्तियोंके मन और व्यवहारकी परीक्षाके लिये ही मानस-शास्त्रका प्रयोग किया जाता था। किन्तु आगे चलकर देखा गया कि व्यक्तिगत रूपमें ही नहीं, सामूहिक रूपमें भी मनुष्य जो कुछ कार्य करता है उन सबके पीछे भी मनुष्यके मनका ही सबसे अधिक हाथ रहता है। अतः मानसशास्त्रका सामाजिक पक्ष भी उतना ही प्रबल समझा जाने लगा जितना व्यक्तिगत पक्ष।

इस ग्रन्थमें हम यही विचार करेंगे कि सामाजिक मानस-शास्त्र और व्यक्तिगत मानस-शास्त्रमें क्या विशेष अन्तर है? किस प्रकार समाजमें व्यवहार करते हुए हम अपने सम्पर्कमें

आनेवाले व्यक्तियों, दर्शकों, प्रतियोगियों (कौम्पिटिटर्स) से चुपचाप बिना जाने प्रभावित होते रहते हैं तथा स्वयं भी अपने सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंको किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) किसे कहते हैं ? उसका सामाजिक व्यवहारमें क्या और कितना महत्त्व है ? विभावन (सजेस्शन), अर्थात् बिना कुछ कहे-सुने प्रभावित होनेका अर्थ क्या है ? यह कितने प्रकारका होता है ? यह किस प्रकार और किन अवस्थाओंमें अपना कार्य करता है ? करुणा (सिम्पैथी) क्या है ? उसका क्या सामाजिक प्रयोग होता है ? समाज किसे कहते हैं ? व्यक्ति और समाजके लिये विवेक (रीज़न) और सङ्कल्प (विल) का क्या महत्त्व है ? सामूहिक मानस (क्राउड माइण्ड) और विचारशील सामूहिक मानस (डेलिबरेटिव ग्रुप माइण्ड) में क्या अन्तर है ? रूढि (ट्रेडिशन), परम्परा (कस्टम), रीति (प्रैक्टिस), नियम (लौ) तथा आचार (फ़ैशन) कैसे बनते और समाजपर कैसे प्रभाव डालते हैं ? जातीय या वर्ग-संस्थाओं और सङ्घोंसे व्यक्तिगत जीवनमें क्या परिवर्त्तन हो जाते हैं ? लोकमत (पब्लिक ओपीनियन) क्या होता है और कैसे प्रभाव डालता है ? लोकतन्त्र किसे कहते हैं ? समाजमें जितने प्रकारके लोग दिखाई पड़ते हैं उनमेंसे केवल कुछ गिने-चुने लोग ही क्यों नेतृत्व करते और नेता बन जाते हैं ? किस प्रकार किन्हीं वस्तुओं, स्थानों या व्यक्तियोंके प्रति हमारी सुरुचि या कुरुचिसे अनुराग या

विरागकी प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं ? ये प्रवृत्तियाँ कैसे बदली जा सकती हैं ? हमारी प्रवृत्तियों और रुचियोंको परिवर्त्तित करनेमें विज्ञापनका कितना हाथ है ? इस विज्ञापनको प्रभावशील बनानेके लिये विज्ञापन-दाता किन हथकण्डोंका आश्रय लेते हैं ? पुरुष और स्त्रीकी मनोवृत्तियोंमें क्या स्वाभाविक अन्तर होता है और क्यों ? स्त्री और पुरुष क्यों किसी एक या अनेकको देखकर उसकी या उनकी ओर आकृष्ट या विकृष्ट हो जाते हैं ? विभिन्न जातियों, समाजों तथा वर्गोंमें क्या मानसिक अन्तर होता है और यह अन्तर किस कारण होता है ? कहनेका तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थमें हम इन सभी प्रश्नोंपर विचार करेंगे कि एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिसे, एक व्यक्तिका किसी समाजसे, एक समाजका किसी व्यक्तिसे और एक समाजका दूसरे समाजसे राग-विरागका सम्बन्ध क्यों होता है और किस प्रकारके वे एक दूसरेको प्रभावित करते रहते हैं।

मानसशास्त्र (मनोविज्ञान) के व्यक्तिगत पक्षके सम्बन्धमें साधारण मानसशास्त्रकी अनेक पुस्तकोंमें बताया गया है कि मनुष्यकी वृत्ति, प्रवृत्ति, रुचि, इच्छा, सङ्कल्प-शक्ति, अभ्यास आदि क्या हैं, उनका कैसे निर्माण होता है, मनुष्यका व्यक्तित्व कैसे बनता है और किस प्रकार उसके मनके भावावेग बनते और जड़ पकड़ते हैं। अतः यहाँ हम उन बातोंकी उद्धरणी न करके केवल मनुष्यके सामाजिक व्यवहारके पक्षपर ही विचार करेंगे।

पारस्परिक प्रभाव

यदि हम अपने नित्यके व्यवहारपर ध्यानसे विचार करें तो देखेंगे कि हम जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आते हैं, जिनके विषयमें पुस्तक या समाचार-पत्रमें पढ़ते हैं और जिनके सम्बन्धके चल-चित्र देखते या जिनके गीत सुनते हैं उनके प्रति हम अपने मनमें एक प्रकारके राग या विरागका संस्कार बना लेते हैं। अपने साधारण सामाजिक जीवनमें भी हम जितने लोगोंसे मिलते हैं उनमेंसे कुछको हम अच्छा समझते हैं, कुछको बुरा और कुछके प्रति उदासीन रहते हैं। हम जिन्हें अच्छा समझते हैं उनके व्यवहार, विचार, ओढ़ने-पहनने, बातचीतके ढङ्गको ज्योंका त्यों अपना लेते हैं। हमारे सम्पर्कमें आनेवाले लोग भी इसी प्रकार हमारे कार्यों, व्यवहारों, बातों तथा क्रियाओंसे सदा प्रभावित होते रहते हैं। इसी परस्पर प्रभावित होने या विभावनकी क्रियापर ही सामाजिक मानस-शास्त्रमें विचार किया जाता है और इसी विभावन-क्रियाकी परीक्षापर ही सामाजिक मानस-शास्त्र निर्भर है।

योरपमें अनेक प्राचीन और नवीन विचारकों, दार्शनिकों तथा समाज-सुधारकोंने इस बातपर बहुत विचार किया है कि मनुष्यका मनुष्यसे या समाजसे क्या और कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। हमारे देशमें तो मानव-जीवनकी कसौटी ही समाज-परक रही है अर्थात् हमारे यहाँ वही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ समझा गया जिसने अपना सर्वस्व दूसरे या दूसरों (समाज) के लिये

बलि दे दिया हो। यही कारण है कि जिसे आज योरपवाले व्यक्तिगत मानस-शास्त्र कहते हैं उसका हमारे यहाँ आदर और विकास ही नहीं हो पाया क्योंकि भारतमें उत्पन्न होनेवाले सभी दार्शनिक मतोंने मनको वशमें करने, इन्द्रियोंका दमन करने तथा इच्छाओंको वशमें रखनेका उपदेश दिया; अर्थात् उन्होंने प्रारम्भसे ही ऐसा विधान बनाया कि मनमें उठी हुई व्यक्तिगत वासनाओंको पूर्ण रूपसे दबा दिया जाय। विचित्र बात यह है कि हमारे यहाँ जिन दान्त (संयमी) पुरुषों या स्त्रियोंके चरित्रका वर्णन किया गया है उनमेंसे कोई भी इच्छाओंको दबानेके कारण न तो पागल हुआ और न कुरोगोंसे ही पीड़ित हुआ जैसा कि फ्रौयड आदि मानस-शास्त्रियोंका अटपटा विचार है।

पूर्वकी सामाजिक भावना

वैदिक साहित्यका भली प्रकार मन्थन करनेवाले लोग जानते हैं कि वेदमें स्थान-स्थानपर जो स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ और याचनाएँ की गई हैं उनमें सामूहिक कल्याणकी भावना अधिक निहित है।

सहनाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यङ्करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

सामूहिक प्रार्थनाओंमें भी यही याचना की गई है कि—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः
शूर इषव्योतिव्याधी महारथी जायतान्दोग्ध्रीधेनुर्वो-

ढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतान्निकामे
निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥—(यजु० २२।२२)

[हे परमेश्वर ! हमारे राष्ट्रमें सर्वत्र ब्रह्मतेजसे पूर्ण ब्राह्मण हों, क्षत्रिय लोग शूर, महारथी, शत्रुको नष्ट करनेवाले और धनुषधारी हों, इस यजमानकी गौएँ दुधार हों, बैल बोझ ढोनेवाले हों, घोड़े तीव्रगामी हों, सभी स्त्रियाँ सौभाग्यवती हों, इसके युवा और विजयी पुत्र सभामें शोभा देनेवाले हों, हमारे यहाँ समयपर मेघ बरसें, पेड़-बिरवे फलोंसे लद जायँ और राष्ट्रका योगक्षेम ठीक चलता रहे।]

इनके अतिरिक्त भी वैदिक साहित्यमें जहाँ कहीं व्यक्तिगत रूपसे स्तुति की गई है वहाँ यही कहा गया है कि हमारा मन शिव-सङ्कल्प अर्थात् कल्याणकारी सङ्कल्प करनेवाला हो (तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु)। इन सब बातोंसे यह समझनेमें कठिनाई नहीं होगी कि हमारे यहाँ प्रारम्भसे ही व्यक्तिकी भावना भी सामाजिक या समाजमय ही थी। व्यक्तिका अपना हित समष्टिमें लीन हो गया था। व्यक्तिवादी योरपके लिये भी महात्मा ईसाने इसी बातका उपदेश किया कि दूसरेके साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा अपने लिये चाहते हो। यह वही उपदेश था जो भगवान् श्रीकृष्ण बहुत पहले ही अर्जुनको दे चुके थे—

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

किन्तु प्रश्न यह है कि इन ग्रन्थोंके पढ़नेसे संस्कारतः हमारे मनमें परोपकारकी भावना क्यों उठती है ? क्यों हम अपना स्वार्थ दबाकर दूसरेका हित करते हैं ? या सब कुछ जान-बूझकर भी हम दूसरेका अहित करके भी अपना स्वार्थ क्यों साधते हैं ? क्यों हम अनेक व्यक्तियोंकी उपस्थितिमें विशेष प्रकारका व्यवहार करते हैं ?

मनुने अपने धर्मशास्त्रमें जब व्यक्तिकी कल्पना की तब उसे समाजके योग्य बनानेके लिये गुरुकुलमें ब्रह्मचर्य पालन करने तथा गृहस्थाश्रममें पहुँचकर ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमोंके पोषणका भार सौंपा । इस कर्त्तव्य-दायित्वके साथ ही भारतीय आचार्योंका व्यापक मत रहा है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः जन्मके साथ तीन एषणाएँ अर्थात् इच्छाएँ लेकर उत्पन्न होता है—१. पुत्रैषणा अर्थात् पुत्र उत्पन्न करने या वंश चलानेकी इच्छा; २. वित्तैषणा अर्थात् धन प्राप्त करने और वैभव जुटानेकी इच्छा; और ३. लोकैषणा अर्थात् लोकमें प्रशंसा प्राप्त करनेकी इच्छा । मनुष्यकी ये स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली तीनों ही जन्मजात इच्छाएँ पूर्णतः सामाजिक हैं जो व्यक्तिगत स्वार्थकी पूर्त्तिके साथ-साथ समाजके ही सहयोगपर अवलम्बित हैं। पुत्र उत्पन्न करनेके लिये स्त्री और पुरुष चाहिएँ, धन प्राप्त करनेके लिये धनके साधनोंके स्वामियों तथा उनसे

सम्बद्ध लोगोंका सहयोग चाहिए और यश प्राप्त करनेके लिये तो सीधे-सीधे जनताका सहयोग चाहिए ही। व्यासजीने अपने अट्ठारहों पुराणोंका सार ही समाज-सेवा या लोकहित बताया है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

पुण्य या धर्म यही है कि हम दूसरेका उपकार करें, अपनी हानि उठाकर भी दूसरेका हित करें, दूसरेको कष्ट न दें क्योंकि दूसरेको कष्ट देना ही पाप या नीचता है। व्यासजीने जहाँ धर्मकी व्याख्या की है वहाँ स्पष्ट कह दिया है—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[जिससे संसारका कल्याण होता हो और किसीको कष्ट न पहुँचता हो वही धर्म है।]

मनुष्यको अपनी व्यक्तिगत वृत्ति, इच्छा, प्रवृत्ति, भावना, आकांक्षा और आवश्यकताको तिलांजलि देकर दूसरोंके हित-साधनका जो यह सन्देश दिया गया है उसकी वृत्ति शुद्ध रूपसे सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। योरप और भारतकी सांस्कृतिक भावनामें सबसे बड़ा अन्तर यही रहा

है कि भारतने सदा दूसरोंको सुख देनेकी मानसिक सिद्धिको ही प्रमुख समझा और योरपने सदा व्यक्तिको ही प्रधानता दी। इसमें सन्देह नहीं कि स्पार्टावालोंने भी अपने यहाँ राष्ट्रको प्रधानता देकर व्यक्तिगत प्रेरणाओं और इच्छाओंके दमनका पाठ पढ़ाया किन्तु उनके यहाँ राष्ट्र ही एक व्यक्ति हो गया और इसीलिये वे विश्वात्ममें व्याप्त परहितकी भावनासे भिन्न होकर सङ्कुचित राष्ट्रके हितकी भावनामें परिमित हो गए।

चीनमें भी कनफूचीने यही उपदेश दिया कि माता-पिताकी शुद्ध तथा निश्छल सेवा और भक्ति करो और वृद्ध माता-पिताको छोड़कर कहीं न भागो। पिछली सैकड़ों पीढ़ियोंसे इस पारिवारिक संघटनके प्रति दृढ़ आस्थाके कारण चीनका सामाजिक सङ्घटन इतना दृढ़ हो गया कि चीन साम्राज्यमें सर्वत्र यह पारिवारिक एकात्मता आजतक व्याप्त मिलती है। इसी प्रकार चीनके ताओवादने वहाँके लोगोंको स्वतन्त्र ग्राम-सङ्घटन, पड़ोसीसे प्रेम तथा सन्तोषका पाठ सिखाकर व्यक्ति-भावनाकी अपेक्षा सामाजिक भावनाको ऐसा पल्लवित किया कि सम्पूर्ण चीनमें एक राष्ट्रीय मानसिक चेतना (नैशनल साइकोलौजिकल सब्जैक्टिविटी) ही उद्बुद्ध हो गई।

योरपकी सामाजिक भावना

योरपमें सबसे पहले अफ़लातून (प्लेटो) ने अपने 'रिपब्लिक' (जनतन्त्र) नामक ग्रन्थमें आदर्श राज्यकी कल्पना करते हुए निर्देश किया था कि 'प्रत्येक मनुष्यको अपनी-अपनी

योग्यताके अनुसार पद मिलना चाहिए।' उसीमें यह भी विधान किया गया था कि 'एक ऐसा विचारशील सामाजिक सङ्घटन किया जाय जिसमें किसी भी व्यक्तिको अन्य कोई भी लोग पीड़ा न दे सकें।' अरस्तूने मनुष्यको राजनीतिक जीव (पोलिटिकल ऐनिमल) बताते हुए कहा है कि 'उसमें स्वभावतः या संस्कारतः सामाजिक सङ्घटन और सामाजिक व्यवहार करनेकी सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं।'

टौमस हौब्सने लिखा है कि 'मनुष्यका जीवन यदि शुद्ध प्राकृतिक अवस्थामें पहुँच जाय अर्थात् असामाजिक हो जाय या व्यवस्थित समाजसे रहित हो जाय तो वह अकेला, निर्धन, निरर्थक, पशुत्वपूर्ण और हीन हो जायगा। वास्तवमें भूख-प्यास, काम-वासना, भय, आदर पानेकी इच्छा, सुखकी लालसा और दुःखसे दूर रहनेकी कामना ही सामाजिक सङ्घटनका आधार है। अतः मनुष्योंने समाजका निर्माण ही इसलिये किया कि उनकी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ तृप्त हों और वे दूसरोंके आक्रमणसे अपनी रक्षा कर सकें। अतः मानव-समाजका जन्म मूलतः भय और स्वार्थसे प्रेरित होकर हुआ।'

टौमस हौब्सके उपर्युक्त विवेचनके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दिके अनेक विचारकोंने भी सामाजिक मानस-शास्त्रकी कुछ भूमिका बाँध दी थी। इँगलिस्तानमें जैरेमी बेन्थमने उपयोगितावाद (यूटीलिटेरियनिज़्म) का प्रवर्त्तन करते हुए कहा था कि 'मनुष्य स्वार्थी जीव है। वह सुख पाने और दुःखसे

दूर रहनेका प्रयत्न किया करता है। मनुष्यकी इसी स्वार्थ-भावनाके कारण ही अनेक सामाजिक विषमताएँ और अन्याय सदा होते रहते हैं। यदि बुद्धिमान् तथा विवेकशील सामाजिक नेता समाजका पथ-प्रदर्शन करें तो इस स्वार्थसे अधिकतम लोगोंका अधिकतम कल्याण हो सकता है।' जेम्स मिल और जौन स्टुअर्ट मिलने बेन्थमके उपर्युक्त विचारका जो विवेचन किया उसीसे प्रेरणा पाकर मनुष्यके सामाजिक और आर्थिक व्यवहारके मानसिक विश्लेषणका श्रीगणेश हो गया।

सन् १८६० में जर्मनीके लाज़ारुस तथा स्टौइन्थाल नामक लोक-मानस-शास्त्रियों (फ़ोक-साइकोलौजिस्ट्स) ने आदिम जातियोंकी लोक-कथाओं, लोकाचारों और भाषाओंकी परीक्षण, विवेचन तथा परिचय देनेके लिये एक पत्रिका (ज़ाइट्रुङ्ग फ्यूर फ़ौल्केर्प्साइकोलौगी ऊण्ड स्प्राख़-वीसेनशाफ़्ट) निकाली जिसमें ये लोग विभिन्न जातियोंकी सामूहिक वृत्तियोंका तुलनात्मक परीक्षण करने लगे। इन लोक-मानसशास्त्रियोंसे ही प्रेरणा पाकर विल्हैम वूण्ड्टने आदिम भाषाओंका अध्ययन प्रारम्भ किया क्योंकि उसका विश्वास था कि इन आदिम भाषाओंमें ही प्रत्येक सामाजिक समूहके विचार और उनकी भावनाएँ पूर्णतः अभिव्यक्त हुई हैं। इसी आधारपर उसने सन् १६०० में पाँच खण्डोंमें 'लोकमानस' (फोल्केर्प्साइकोलौगी) नामक एक महाग्रन्थ प्रकाशित किया। किन्तु नरविज्ञान-शास्त्रियों (एन्थ्रोपोलौजिस्ट्स) ने इस आधारपर उसके मतोंका खण्डन किया

कि भाषाओंमें इतना अधिक आदान-प्रदान और विस्तार हुआ और होता आया है कि किसी भाषाको हम किसी भी समाजकी धारणा तथा भावनाओंका शुद्ध परिचायक नहीं मान सकते। फिर भी वूण्ड्टके अध्ययनोंका यह परिणाम तो अवश्य हुआ कि नरविज्ञान तथा सामाजिक मानस-शास्त्र (सोशल साइकोलौजी) का अध्ययन करनेवाले लोग भाषाओंका आश्रय भी अवश्य लेने लगे।

सामाजिक मानसशास्त्रके विकासमें हरबर्ट स्पेन्सरका सबसे अधिक हाथ रहा है। उसने डारविनसे बहुत पहले ही विकासवादका सिद्धान्त भी प्रतिपादित कर दिया था और 'जीव-श्रेणियोंका उद्गम' (ओरिजिन औफ़ स्पीसीज़) शीर्षक ग्रन्थ भी लिख डाला था। स्पेन्सरने अपने विकासवादी सिद्धान्तका आरोप सामाजिक व्यवहार और सामाजिक विधानोंपर भी किया। उसका मत है कि 'वर्त्तमान जटिल समाजको हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसके पूर्वका सामाजिक विकास भली भाँति समझ लें।' इसीलिये उसने मनुष्यके प्राकृतिक वातावरणकी तुलनामें भवन, यन्त्र, भाषा, रीति, धर्म तथा अन्य मानवीय कृतियोंको सामाजिक वातावरण (सुपरऔर्गेनिक एन्वाय्‌रनमेन्ट) बताते हुए कहा है कि 'इस मनुष्य-निर्मित परिस्थितिको ही पीछे चलकर लोग संस्कृति या सामाजिक देन कहने लगे और समाज-शास्त्रियों तथा सामाजिक मानस-शास्त्रियोंने इसे ही अपने अध्ययनका मुख्य आधार बना लिया।'

सामाजिक मानस-शास्त्रका प्रारम्भ

वास्तविक समाज-शास्त्रकी अवस्था अभी कुल चौंसठ वर्षकी ही है क्योंकि सन् १८९० के लगभग ही सामाजिक मानस-शास्त्रको नवीन तथा भिन्न अध्ययन-क्षेत्र बनाया गया और तभी अन्य मनुष्योंके प्रति किसी मनुष्यके व्यवहारके सम्बन्धमें नियम और सिद्धान्त निर्धारित किए गए। उसी समय लेबों और बर्नहौइमके सम्मोहन (हिप्नौसिस) और विभावनीयता (सजेस्टिबिलिटी) के प्रयोगसे प्रभावित होकर गाब्रिए तार्दे नामक फ्रान्सीसीने 'अनुवर्त्तनके सिद्धान्त' (ला लौइ द ल' इमिटेशन) प्रकाशित किया जिसमें उसने बतलाया कि 'जाने या अनजाने (सचेत या अचेत) अनुवर्त्तन-द्वारा ही हम लोग एक दूसरेके प्रति प्रतिक्रिया (व्यवहार) करते हैं अर्थात् सामाजिक परिवर्त्तन, रीति, रूढि, नई चलन (फ़ैशन), नये प्रयोग, धार्मिक आवेग तथा अन्य सब प्रकारके सामाजिक व्यवहार अनुवर्त्तनसे ही आते हैं।' वास्तवमें तार्देने 'अनुवर्त्तन'के नामसे जिन बातोंका उल्लेख किया था उसे आजकल लोग अनुवर्त्तन (इमिटेशन) न कहकर विभावन (सजेस्शन) कहते हैं। गुस्टाव लेबोंने भी मानसिक रोगोंके उपचारके लिये विभावन (सजेस्शन) के प्रयोगका अध्ययन करके और उससे प्रभावित होकर 'भीड़ और उसकी मनःप्रवृत्ति' (ला साइकोलौगी द फ़ूले, १८९५) शीर्षक ग्रन्थ लिखा था जिसमें उसने सामूहिक विभावनीयताके आधारपर भीड़, समूह

और अनेक लोगोंके सम्मिलित लोक-आन्दोलनोंकी व्याख्या की थी। उसका मत है कि 'किसी भीड़ या समूहमें जितने व्यक्ति होते हैं उन अलग-अलग व्यक्तियोंकी अपेक्षा वह समूह अत्यन्त कम विचारशील, अत्यन्त कम बुद्धिवाला और अत्यन्त कम नैतिक होता है अर्थात् व्यक्तिगत रूपसे मनुष्य अधिक विचारशील, अधिक बुद्धिमान् और अधिक नैतिक होता है पर भीड़में पहुँचकर उसकी विचार-शीलता, बुद्धिमानी और नैतिकता कम हो जाती है। इतना ही नहीं, यह समूह अधिक भावावेगपूर्ण (इमोशनल) तथा विभावनशील (सजेस्टिबिल) होता है अर्थात् आँख मूँदकर नेताओंके पीछे उसी प्रकार दौड़ पड़ता है जैसे मूर्च्छा (हिस्टीरिया) का रोगी सम्मोहन (हिप्नौसिस) का विभावन (सजेस्शन) या प्रभाव अति शीघ्र ग्रहण कर लेता है।' आगे चलकर लेबोंका यह समूह-मानस (क्राउड माइण्ड) का सिद्धान्त सामाजिक मानसशास्त्रमें विवादका विषय हो गया कि 'समूहके अन्तर्गत आए हुए व्यक्तियोंके व्यक्तिगत मानससे समूहका मानस भिन्न होता है।' आजकल मानस-शास्त्रियोंका यह मत हो गया है कि 'सामूहिक मानस (क्राउड माइण्ड) जैसी कोई वस्तु ही नहीं है।' इन लोगोंका कहना है कि 'हम किसी भीड़ या समूहमें जो एक प्रकारका समान व्यवहार पाते हैं उसका कारण यह है कि भीड़का प्रत्येक व्यक्ति जब उस भीड़ या समूहकी किसी विशेष दशा या परिस्थितिका अङ्ग बन जाता है तब उस व्यक्तिमें कुछ भावावेगशीलता (इमोशनैलिटी)

और विभावनीयता (सजेस्टिबिलिटी) अर्थात् विभावित (प्रभावित) होनेकी समर्थता अधिक बढ़ जाती है और इसीलिये वह भी अन्य लोगोंके समान समान व्यवहार करने लगता है।'

सन् १९०८ में तो 'सामाजिक मानस-शास्त्र' (सोशल साइकोलौजी) नामकी दो पुस्तकें ही प्रकाशित हो गईं। इनमेंसे एक थी ऐडवर्ड ए० रौसकी, जिसमें विभावन (सजेस्शन) और अनुवर्त्तन (इमिटेशन) शब्दोंका अन्तर स्पष्ट किया गया था और बतलाया गया था कि इस विभावन और अनुवर्त्तनके द्वारा किस प्रकार तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक घटनाएँ जन्म लेती हैं। दूसरी पुस्तक विलियम मैकडुगलकी थी जिसमें मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) के आधारपर सामाजिक व्यवहारकी व्याख्या की गई थी। मैकडुगलका मत है कि 'विरति (रिपल्शन), कलहप्रियता (पग्नैसिटी) तथा सद्भावना (ग्रिगेरियसनेस्) आदि सहज प्रवृत्तियों (इन्नेट टेण्डेन्सीज) के कारण हममें स्वाभाविक रूपसे सामाजिक जीवन विद्यमान है। अतः सामाजिक मानस-शास्त्रको हम व्यक्तिगत मानस-शास्त्रके द्वारा ही समझ सकते हैं।' सन् १९२० के लगभग-तक मैकडुगलके मतोंका व्यापक समर्थन हुआ और वे अत्यन्त मान्य रहे किन्तु सन् १९२० में सहसा मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) के अस्तित्वका ही विरोध उठ खड़ा हुआ और वह सारा सिद्धान्त ही खटाईमें पड़ गया।

———

२

सामाजिक मानस-शास्त्रके प्रयोग

उधर एक ओर मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) तथा समूह-मानस (क्राउड-माइण्ड) पर घोर वाद-विवाद चल ही रहा था कि इधर सामाजिक मानस-शास्त्रियोंने कोरे सिद्धान्तोंपर शास्त्रार्थ करनेके बदले प्रत्यक्ष प्रयोग प्रारम्भ कर दिए। सन् १९०० से पूर्व प्रयोगवादी मानस-शास्त्री नौर्मन ट्रिप्लेटने यह परीक्षा ली कि प्रतियोगिता (कौम्पीटिशन) से बच्चे किस प्रकार उत्साहित होते हैं। उन्होंने बच्चोंको यह काम दिया कि वे रीलोंके डोरोंमें बँधे हुए छोटे-छोटे झण्डोंको रील घुमाकर एक स्थानतक पहुँचावें। इस प्रयोगसे देखा गया कि उनमेंसे चालीस बच्चोंने अकेले काम करते समय जितनी गतिसे काम किया उसकी अपेक्षा प्रतियोगिताके समय अधिक तीव्रतासे काम किया, दस बालकोंने अकेले काम करनेकी अपेक्षा प्रतियोगिताके समय अधिक सुस्ती दिखाई और दस बालकोंने अकेले भी उतना ही काम किया जितना अन्य लोगोंके साथ प्रतियोगिता करते समय।

ट्रिप्लेटने विभावन (सजेस्शन) के सम्बन्धमें भी एक विचित्र प्रयोग किया। उसने दस-दस बारह-बारह वर्षके बच्चोंके विशाल समूहके सम्मुख हस्तलाघव (हाथकी सफ़ाई) के खेल दिखलाते हुए बिना गेंदके ही इस प्रकार हाथ चलाना प्रारम्भ किया मानो गेंद उछाल रहा हो। यह खेल देखकर लगभग आधे बच्चोंने कहा कि हाँ, हमने गेंद ऊपर जाते और लुप्त होते देखी है।

इन सब प्रयोगोंसे मानस-शास्त्रियोंको विश्वास होने लगा कि सामाजिक व्यवहारके जटिल क्षेत्रोंमें प्रयोग करना भी सम्भव है। तदनुसार प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१९) के पश्चात् जो प्रयोगकी लहर चली उनसे सामाजिक मानस-शास्त्रके सम्बन्धमें अनेक महत्त्वपूर्ण नई-नई खोजें हुईं।

समाजमें व्यक्तिका व्यवहार

वाल्थर मोडने यह जाननेका प्रयोग किया कि अन्य व्यक्तियोंकी उपस्थितिमें कोई व्यक्ति कितना अच्छा तथा कितनी तीव्र गतिसे काम करता है। उसने एक परीक्षा तो यह मापनेके लिये ली कि अकेलेमें और अन्य लोगोंकी उपस्थितिमें किसकी मुट्ठीकी पकड़ कितनी कम या अधिक शक्तिशाली होती है। इसके लिये पहले उसने एक व्यक्तिको अकेलेमें बैठाकर उससे कहा कि अधिकसे अधिक बल लगाकर मुट्ठी कसे। इसके पश्चात् जब उसे दूसरे प्रतिद्वन्द्वीके साथ बैठाया गया तब ज्ञात हुआ कि पहलेवाले व्यक्तिकी शक्ति बढ़ गई है और उसने

पहलेसे भी अधिक कसकर मुट्ठी बाँधी। सहनशीलताकी मापके लिये भी उसने परीक्षण करके देखा कि जो बालक अकेले-अकेले अधिक कष्ट नहीं सह सकते थे वे अन्य प्रतिद्वन्द्वियोंके साथ पड़नेपर अधिक सहिष्णु हो गए।

इसी प्रकार एक छपे हुए पन्नेपर कुछ अङ्क और अक्षर बनाकर बालकोंको दे दिया गया और कहा गया कि इनमेंसे अशुद्ध अङ्क और अक्षर अत्यन्त शीघ्रतासे काट दो। देखा गया कि प्रतिद्वन्द्विताके समय बालकोंने अधिक तीव्रतासे किन्तु कम शुद्धताके साथ काटे और अकेले काम करनेपर कम गतिके साथ किन्तु अधिक शुद्धताके साथ काटे। इन प्रयोगोंसे एक विचित्र बात यह खोज निकाली गई कि धीमे कार्य करनेवाले लोग तो प्रतियोगिताके समय तीव्रतासे काम करने लगते हैं और तीव्र काम करनेवालोंकी गति कुछ मन्द पड़ जाती है।

इन सामाजिक मानस-शास्त्रियोंने यह भी परीक्षण किया कि दर्शकोंकी उपस्थितिसे किसी व्यक्तिके कार्यकी गुणवत्ता प्रभावित होती है या नहीं। इओवा विश्वविद्यालयके ली ई० ट्राविसने कुछ विद्यार्थियोंको आदेश दिया कि सब लोग अकेले-अकेले एक चलते हुए लक्ष्य (जैसे उड़ते हुए पक्षी) की गतिका ध्यानसे निरीक्षण करें। फिर उसने उन्हें अनेक दर्शकोंकी उपस्थितिमें उसी लक्ष्यको ध्यानसे निरीक्षण करनेके लिये आदेश दिया। प्रयोगसे ज्ञात हुआ कि अधिकांश छात्रोंने दर्शकोंके सम्मुख अधिक सावधानीसे निरीक्षण किया। किन्तु बर्नार्ड

कौलेजकी कुमारी जियोर्जिना एस्० गेट्सने अनेक परीक्षणोंके द्वारा उल्टा ही परिणाम निकाला कि अकेले काम करते समय तथा दर्शकोंके छोटे या बड़े समूहोंके सम्मुख कार्य करते समय बालकोंके कार्योंमें अत्यन्त महत्त्वहीन तथा अल्प अन्तर होता है।

इसी प्रकारके एक प्रयोगसे जौन एफ़० डैशीलने यह अनुभव किया कि जब दर्शक उपस्थित रहते हैं तब कार्य करनेवाले व्यक्तियोंकी गति तो अवश्य तीव्र हो जाती है किन्तु उसमें शुद्धता कम रह जाती है। इस विषयपर किए हुए अनेक परीक्षणोंसे सदा यही परिणाम निकला है।

फ्लौइड एच्० औलपोर्टका मत है कि यदि दर्शकोंके बदले साथमें काम करनेवाले कई साथी भी रहें तब भी यही परिणाम होता है अर्थात् सहकारियोंके साथ काम करते समय प्रायः कार्य शीघ्रतर होता है, क्योंकि सुस्त व्यक्ति भी तीव्र गतिसे कार्य करनेवालोंके साथ अधिक वेगसे काम करने लगते हैं। यद्यपि यह नियम व्यापक नहीं है क्योंकि कभी-कभी इस प्रकार व्यक्तियोंके साथ काम करते समय इस परिणाममें अपवाद भी पाए गए हैं। डैशीलका मत है कि इस विषयमें शुद्ध परिणाम प्राप्त करनेके लिये प्रयोगसे पूर्व इन बातोंका भी समाधान कर लेना चाहिए कि—१. जिस व्यक्तिकी कार्य-गतिका परीक्षण किया जा रहा है वह अन्य सहकारियोंके साथ प्रतियोगिता कर भी रहा है या नहीं? २. उसके मनमें किसी प्रकारका उद्वेग (व्याकुलता) तो नहीं है? ३. अन्य सहकारियोंकी

गतिके कारण उसका ध्यान तो नहीं बँट रहा है? क्योंकि इनमेंसे किसी भी कारणसे परिणाम भ्रामक हो सकता है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालयके जूलियस बी० मालरने यह भी परीक्षण किया कि कार्य करनेवालोंपर किस प्रकारकी प्रतियोगितासे कितना कम या अधिक प्रभाव पड़ता है। उसने निम्नाङ्कित परिस्थितियोंमें विद्यालयके बच्चोंकी प्रतियोगिता कराकर अध्ययन किया—(क) जब विद्यार्थी स्वतः अपने लिये काम करता हो। (ख) जब वह पूरी कक्षाके लिये कार्य करता हो। (ग) जब वह अपने मनसे चुने हुए दलके लिये कार्य करता हो। (घ) लड़कियाँ लड़कोंको या लड़के लड़कियोंको हरानेके लिये अपने समलिङ्गियोंके साथ मिलकर काम करते हों और (ङ) जब कोई छात्र किसी दूसरेके द्वारा बनाए हुए समूहके लिये काम करता हो।

इन परीक्षणोंसे यह परिणाम निकाला गया कि जब कोई बालक स्वयं अपने लिये कार्य करता है तब वह अत्यन्त तीव्र उत्साहके साथ काम करता है किन्तु जब वह परलिङ्गियों ('अपोज़िट सेक्स') के विरुद्ध काम करता है या अपने मेलके समूहके सदस्योंके साथ मिलकर अन्य किसी वर्गके विरुद्ध भी काम करता है तब वह और भी अधिक उत्साह तथा तीव्रतर गतिसे काम करता है। जब उन बालकोंसे पूछा गया कि तुम किन अनुबन्धोंके अनुसार प्रतियोगिता करोगे, तब तीन-चौथाई बालकोंने कहा कि हम अकेले-अकेले प्रतियोगिता करेंगे। पूरी

कक्षाके साथ मिलकर या किसीके द्वारा बनाए हुए मनमाने समूहके साथ मिलकर किसी दूसरेके विरुद्ध प्रतियोगिता करनेमें बालकोंका उत्साह अत्यन्त मन्द दिखाई दिया।

प्रसिद्ध रूसी मानस-शास्त्री व्लाडीमीर बेख़्तरेवने इस बातका अध्ययन किया कि सामूहिक चिन्तन अर्थात् सामूहिक रूपसे निर्णय करनेके लिये सहयोगसे कितना लाभ होता है। एक समूहके सदस्योंने निम्नाङ्कित विषयोंपर विचार-विमर्श किया—(क) किसी अन्तरिम समयकी अवधि अनुमानतः कितनी होगी ? (ख) किसी चलचित्र या चित्रमें उन्होंने क्या सूक्ष्म बातें देखीं ? (ग) कुछ कार्योंकी नैतिकताका निर्णय। (घ) रचनात्मक चिन्तन। 'रचनात्मक चिन्तन'के लिये इस विषयपर विचार-विमर्श हुआ कि रूसी कवि नेक्रासोवका स्मारक किस प्रकार बनाया जाय। यद्यपि इसमें कई कठिनाइयाँ भी हुईं किन्तु सबका परिणाम यही निकला कि व्यक्तिगत चिन्तनकी अपेक्षा सामूहिक विचार-विमर्शसे अधिक लाभ होता है विशेषतः किसी बातके औचित्यका निर्णय करने और निर्णयका महत्त्व समझनेकी दृष्टिसे।

इसी प्रकार सहयोगात्मक चिन्तनके प्रसङ्गमें डैशीलने अध्ययन किया कि न्यायालयमें परामर्श-दाताओं (जूरियों) के विचार कितने प्रकारके होते हैं। उसने कुछ घटनाओंके साक्षियोंको जूरीके एक समूहके सम्मुख साक्ष्य देनेके लिये बुलाया और उसके पश्चात् जूरीने उनके साक्ष्यपर विचार-विमर्श किया।

उनके विवरणसे डैशीलने परिणाम निकाला कि साक्षियोंकी बात सुनकर जूरी लोग साधारण साक्षीकी अपेक्षा अधिक पूर्णताके साथ तथा कुछ अधिक सटीकताके साथ पूरी घटना सुना सकते हैं और पूरा जूरी-समूह विचार-विमर्शके पश्चात् किसी अकेले सदस्यकी अपेक्षा उस घटनाके सूक्ष्म विवरणोंका अधिक पूर्ण तथा सटीक विवरण दे सकता है। डैशीलने स्वीकार किया है कि मैंने जो परिणाम निकाले हैं वे सब वास्तवमें रुझान या प्रवृत्तिमात्र हैं क्योंकि यदि घटनाएँ, साक्षी और जूरर विभिन्न प्रकारके हों तो परिणाम अत्यन्त भिन्न भी हो सकते हैं।

पारस्परिक प्रतिक्रिया

अतः परिणाम यह निकला कि सामाजिक मानस-शास्त्रका मुख्य आधार यही है कि समाजमें लोग एक दूसरेके प्रति किस प्रकार व्यवहार करते हैं। हम यह परीक्षण इसीलिये करेंगे कि सामाजिक व्यवहारकी प्रकृति क्या है, वह सामाजिक व्यवहार किन परिस्थितियोंमें उत्पन्न होता या रूप ग्रहण करता है और जो लोग इनमेंसे एक या दूसरे प्रकारका सामाजिक व्यवहार करते हैं वे किस प्रकारके हैं। इस प्रकारके परीक्षणके लिये स्वभावतः हम मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट), विभावन (सजेस्शन), अनुवर्त्तन (इमिटेशन), नेतृत्व (लीडरशिप) और अङ्गीकरण अर्थात् किसी बातको ज्योंका त्यों अपना लेनेकी वृत्ति (कन्फ़ौर्मिटी) पर भी विचार करेंगे।

३

बालकका सामाजिक संस्कार

वीयनाके मानस-शास्त्री कार्ल ब्यूहूलरने, रोते हुए नन्हें-नन्हें बच्चोंपर प्रयोग करके देखा कि यदि रोते बच्चोंके पास गरम पानीकी बोतल या कोमल तकिया उसी प्रकार रख दिया जाय जैसे माँ उसके शरीरसे लगकर लेटती है तो वे चुप हो जाते हैं। इस प्रयोगके आधारपर उन्होंने परिणाम निकाला कि मानव-शिशु प्रारम्भमें तो पूर्णतः असामाजिक होता है अर्थात् उसे किसीके मेलजोलकी पहचान और परख नहीं होती किन्तु तीसरे ही महीनेमें वह बच्चा सामाजिक होने लगता है। उसके पश्चात् वह अपने माता-पिता या अन्य सम्पर्कमें आनेवालोंके प्रति निश्चित रूपसे अपनी रुचि या अरुचि प्रकट करने लगता है : किसीको देखकर उसकी गोदमें नहीं जाता, किसीको देखकर झट हँसकर उसकी गोदमें चढ़ जाता है; किसीको देखकर डरकर रोने लगता है, किसीको देखकर खिल उठता है; किसी वस्तुको देखकर उसे पानेके

लिये ललकता है और किसी वस्तुको देखते ही डरसे चिल्ला उठता है।

कार्ल ब्यूह्लरकी पत्नी श्रीमती शार्लोटे ब्यूह्लरने इस बातका अत्यन्त ध्यानसे अध्ययन किया कि बच्चे किस अवस्थामें अन्य बच्चोंके साथ मेलजोल बढ़ाते हैं, उनके प्रति अपनी क्या और कैसी रुचि दिखाते हैं तथा उन्हें देखकर क्या कहते या करते हैं। इस प्रयोगमें उन्होंने देखा कि चार या पाँच मासतककी अवस्थाका बच्चा अन्य बच्चोंको देखकर केवल मुसकरा-भर देता है। आठ या नौ महीनेकी अवस्थामें वह अन्य बच्चोंको अपना खिलौना देने लगता है और दूसरे बच्चेका रोना-चिल्लाना सुनकर उसकी ओर आकृष्ट होने लगता है। नौ या दस महीनेकी अवस्थामें वह अन्य बच्चोंका चलना-फिरना, हँसना-बोलना, उठना-बैठना देखकर वैसा ही करने लगता है अर्थात् वह उनका अनुवर्त्तन तो करता है किन्तु दूसरे बालकको अपना खिलौना नहीं देना चाहता और खिलौना देनेमें आनाकानी भी करता है।

बच्चोंका सामाजिक व्यवहार

छोटे बच्चोंके सामाजिक व्यवहारमें भी उन्होंनेने अत्यन्त भिन्नता पाई। उन्होंने देखा कि छहसे अट्ठारह महीनेके बीचकी अवस्थावाले बहुतसे बच्चे अनमिल या सामाजिकता-शून्य (स्रोशली ब्लाइण्ड) थे और वे अन्य बच्चोंकी ओर या तो बहुत थोड़ा ध्यान देते थे या तनिक भी ध्यान नहीं देते

थे। कुछ ऐसे भी पराश्रित (सोशली डिपेन्डेन्ट) बालक निकले जो अपने आप तो कुछ नहीं करते थे पर दूसरे बालकोंके आ जानेपर उनमें भी मिलने-जुलनेकी चेतनता (सेंसिटिवनेस) आ जाती और वे भी उनके हँसने-बोलने, खेलने-कूदने आदि व्यवहारोंसे प्रेरणा पाकर वैसा ही करने लगते। कुछ ऐसे भी बालक निकले जो स्वयं मेलजोल बढ़ाते, खेलनेके लिये साथी ढूँढ़ते अर्थात् स्वतःसामाजिक (सोशली इन्डिपेन्डेन्ट) थे। ये बच्चे अपने साथियोंको भली-भाँति जानते-पहचानते भी थे और उनकी बातचीत तथा हँसी-खेलमें भी हाथ बँटाते थे किन्तु उनकी उछल-कूद, बोलना-हँसना किसीके भरोसे नहीं था। श्रीमती ब्यूह्लरका विश्वास है कि 'बच्चोंमें जो ऐसी स्वभाव-गत भिन्नता पाई जाती है इसका यह कारण नहीं है कि कुछ पहलेसे उनका ऐसा सामाजिक अनुभव हो या घरकी परिस्थितियोंने उन्हें वैसा बनाया हो या उनकी जातिमें ही ऐसे व्यवहारका चलन हो।' आजकलके जो मानस-शास्त्री कुल-परम्परा (हेरिडिटी) तथा वातावरण (एन्वारनमेंट) के घेरेमें घिरकर मानव-मानसकी परख करना चाहते हैं वे इस रहस्यको समझ ही नहीं सकते। किन्तु भारतीय दर्शनोंने इसका स्पष्ट कारण बता दिया है कि यह पूर्व जन्मके संस्कारका परिणाम है।

यद्यपि सिद्धान्त-रूपसे तो अभीतक प्रमाणित नहीं किया जा सका है किन्तु प्रयोगसे देखा गया है कि बालकका सामाजिक व्यवहार कई वर्षोंतक एक-सा रहता है। रथ डब्ल्यू०

वौशवर्न और आर्थर टी० जेरसिल्ड नामक दो प्रसिद्ध बाल-मानस-शास्त्रियोंने बच्चोंके सामाजिक व्यवहारोंका स्वतन्त्र अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि जो बच्चे शिशु अवस्थामें देखा-देखी काम करनेवाले या दूसरोंके पीछे चलनेवाले या अनुवर्त्ती (फ़ौलोअर), मुखिया या नेता (लीडर), एकान्तप्रिय (सौलिटरी), डरपोक (टिमिड), झोंकमें काम करनेवाले या उद्वेगशील (इम्पल्सिव) अथवा सबको धकेल या पछाड़कर आगे बढ़नेवाले (आउट-गोइङ्ग) होते हैं उन सबके सामाजिक व्यवहार, विद्यालय जानेसे पूर्वकी अवस्था अर्थात् शिशु-विद्यालय (नर्सरी स्कूल) की अवस्थातक, निरन्तर ज्योंके त्यों रहते हैं, उनके व्यवहारमें कोई अन्तर नहीं आता।

मनुष्यका सामाजिक व्यवहार अवस्था-सापेक्ष, सम्पर्क-सापेक्ष, अवसर-सापेक्ष, मानसिक या शारीरिक अवस्था-सापेक्ष और वृत्ति-सापेक्ष होता है अर्थात् मनुष्यका सामाजिक व्यवहार अवस्थाके अनुसार बदलता रहता है। वह जिन लोगोंके सम्पर्कमें आता है, उनके पद, मर्यादा, स्वभाव और व्यवहारके अनुसार अपना व्यवहार बनाता रहता है, अवसर देखकर रङ्ग-ढङ्ग बदलता रहता है और अपने तन-मनके दुखी-सुखी होनेके अनुसार और जीवनमें जैसा काम पड़ जाय उसके अनुसार अपना सामाजिक व्यवहार बदलता चलता है। नटखट और चञ्चल बालक भी बड़ा होकर जब न्यायाधीश बन जाता है या अन्य किसी उत्तरदायित्वपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित होता है तब गम्भीर हो जाता

है। अतः हमारा सामाजिक व्यवहार स्थिति-सापेक्ष अर्थात् प्रत्येक स्थितिके अनुसार रङ्ग पकड़ता चलता है और इसीलिये मनुष्यके सामाजिक व्यवहारके सम्बन्धमें आजतक न तो कोई तुला या कसौटी बन पाई है, न बन सकती है। फिर भी बच्चेकी सामाजिक प्रगतिका विवरण प्राप्त करनेके लिये के० एम० बी० ब्रिजेज़ने एक मोटा-मोटा-सा मानदण्ड स्थापित किया है जिसके अनुसार निम्नाङ्कित बातें देखकर किसी बच्चेके सामाजिक व्यवहारका लेखा मिल सकता है—

१. अन्य बच्चोंसे बातें करना, २. उनके खेलमें सम्मिलित होना, ३. दूसरे बच्चेसे सहायता माँगना, ४. खेलमें अपनी बारी आनेके लिये प्रतीक्षा करना, ५. दूसरोंको सहायता देनेका प्रयत्न करना, ६. किसी दूसरे बच्चेको कष्टमें पाकर उसे सान्त्वना देना या चुप करना, ७. अन्य बच्चोंसे मेलजोल बढ़ानेका प्रयत्न करना, ८. दूसरोंके खिलौने न लेना, ९. दूसरोंके काम या खेलमें हस्तक्षेप न करना, न किसीको धक्का देना, न खींचना, न मारना न चूँटना, १०. अन्य बच्चोंके साथ अपने खिलौने और मिठाई बाँटकर खेलना-खाना, ११. छोटे बच्चोंके अधिकारोंकी रक्षा करना और १२. सामूहिक कार्य या खेल स्वतः प्रारम्भ करना। यदि इन क्रियाओंकी परख करके कोई मानदण्ड (नौर्म) बनाया जाय तो उसके सहारे साधारण बालक भी विद्यालयके पूर्व (प्री-स्कूल) के वर्षोंमें भी सामाजिक भावनासे समृद्ध हो सकता है।

बालकके व्यक्तित्वपर प्रभाव

बालकपर कितना और कैसा सामाजिक प्रभाव पड़ता है इसकी परीक्षा करनेके लिये हमें देखना चाहिए कि बालकके शरीरका और उसके घर, परिवार तथा समाजका या इनके अतिरिक्त अन्य किन्हीं बातोंका उसपर क्या प्रभाव किस प्रकार पड़ता है। किसी भी व्यक्तिका व्यक्तित्व (उसकी रुचि, प्रवृत्ति, कामना, वासना, आकांक्षा आदिका समूह), उसकी शारीरिक और सामाजिक शक्तियों (फ़ोर्सेज़) का परिणाम है। शरीरकी बनावट तो सभीको प्रायः अपने माता-पितासे मिलती है। मोटे डौल माता-पिताओंके बच्चे मोटे; दुबले-पतले मरियल लोगोंके दुबले-पतले, लम्बोंके लम्बे और नाटोंके नाटे होते हैं; यहाँतक कि मुँह, नाक, कान, आँख आदि अङ्गोंकी बनावट भी माता-पिता या कुल-परम्पराकी ढलनपर ही बनी होती है। अतः शरीर तो शुद्ध रूपसे हमें माता-पितासे ही मिलता है।

किन्तु हमारे व्यक्तित्वके विकासमें जो सामाजिक प्रभाव काम करता है उसमें घर, परिवार, मित्र, विद्यालय, पड़ोस, जाति, स्वामी और राष्ट्रका भी कम हाथ नहीं होता है। इसीलिये कुछ मानस-शास्त्रियोंने इन सब प्रभावोंका तुलनात्मक महत्त्व आँकनेका भी विस्तृत प्रयास किया है। हमारे व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवहारपर शारीरिक प्रभाव अधिक पड़ता है या सामाजिक, इस विषयपर बहुत-सी गवेषणाएँ हुईं और इस

सम्बन्धमें बड़ा विवाद और मतभेद भी बना हुआ है। जर्मन मानस-चिकित्सक अर्न्स्ट क्रेश्मेरने शारीरिक बनावटकी दृष्टिसे तीन प्रकारके मानव-शरीर निर्धारित करते हुए कहा है कि १. घुमन्तू (पिकनिक) प्रकृतिवाले नाटे, गठीले और पक्के होते हैं। २. दुर्बल प्रकृतिवाले लम्बे और पतले होते हैं। ३. कसरती शरीरवाले भरे और सुडौल अङ्गवाले होते हैं। किन्तु साधारणतः मनुष्योंमें शरीरकी बनावट और उनके व्यक्तित्वमें कोई परस्पर सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता।

शरीर और व्यक्तित्वका सम्बन्ध

सन् १९२८में गिलबर्ट जे० रिचने शरीरकी क्षारता (आल्केलिनिटी) और भावोद्वेगात्मक उत्तेजनीयता (इमोशनल एक्साइटेबिलिटी)का पारस्परिक सम्बन्ध जाननेका प्रयत्न किया। किन्तु ऐसे प्रयत्न सभी निष्फल सिद्ध हुए जिनमें भावावेगकी उत्तेजनाके साथ शारीरिक रसोंका सम्बन्ध जोड़नेका प्रयास किया गया था। इसी सनकमें लुई बेर्मनने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि 'मानव-शरीरके भीतर ही भीतर रस रिसानेवाली गाँठें (अन्तःप्रस्रविणी ग्रन्थियाँ अर्थात् ऐंडोक्राइन ग्लैंड्स) जितनी मात्रामें रस छोड़ती हैं उसीके अनुसार मनुष्य भला-बुरा, सुस्त, फुर्तीला, मोटा या पतला होता है।' पर उसका यह मत न तो मानस-शास्त्रियोंने माना न अन्तर्ग्रन्थिवादियों (ऐंडोक्राइनोलौजिस्ट्स)ने ही।

इस सम्बन्धमें ऐल्फ्रेड ऐडलरका मत है कि 'यद्यपि

शरीरकी बनावट, रक्तकी प्रकृति और अन्तः-प्रस्रविणी ग्रन्थियोंका तो व्यक्तित्वपर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु शारीरिक बनावट और व्यक्तित्वमें परस्पर सम्बन्ध अवश्य है।' ऐडलरका मत है कि 'जो लोग हीनाङ्ग या विकलाङ्ग होते हैं वे अपनेको हीन समझने लगते हैं और उनमें आत्महीनताकी भावनाएँ (फ़ीलिंग्स औफ़ इन्फ़ीरिऔरिटी) आ ही जाती हैं। लँगड़े, नाटे, कुरूप या विकृत अङ्गवाले बच्चे अपनेको हीन समझ बैठते हैं और वे अपनी इन शारीरिक हीनताओंको पूर्ण करनेके लिये वास्तविक या काल्पनिक प्रयास भी करने लगते हैं। अतः यह सम्भव है कि उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसी कमीकी पूर्त्ति करनेका प्रयासमात्र ही हो।' किन्तु ऐडलरका यह मत भ्रामक है। वास्तवमें यह आत्महीनता उनकी शारीरिक हीनताके कारण नहीं उत्पन्न होती। यह तो तब होती है जब वे अन्य सर्वाङ्गपूर्ण व्यक्तियोंसे अपनी तुलना करके उन्हें अपनेसे अधिक समर्थ पाते हैं। क्योंकि यदि सारा संसार ही लूला होता तो कोई अपनेको हीन न समझता और अपनी पूँछ कटनेपर दूसरोंकी पूँछ कटवानेकी सम्मति भी कोई न दिया करता। यदि सभी स्त्रियाँ सुन्दरी हुआ करतीं तो कोई भी व्यक्ति उनके असुन्दर होनेकी कल्पनाके फेरमें क्यों पड़ता। अतः शारीरिक गुण भी व्यक्तित्वको प्रभावित करते हैं और उन गुणोंका महत्त्व भी इसीलिये है कि समाज उन गुणोंका इतना आदर करता है।

फ्रौयड्का मत

स्नायविक रोगोंसे पीड़ित (न्यूरोटिक) व्यक्तियोंकी चिकित्साके लिये मनोविश्लेषणात्मक (साइको-एनेलिटिक) उपचारका विधान समझाते हुए सिग्मण्ड फ्रौयडने व्यक्तित्वका सिद्धान्त निर्धारित करते हुए कहा कि 'प्रत्येक व्यक्तिमें एक मौलिक विस्फूर्ति या स्वाभाविक झोंक (फ़ण्डामेंटल ड्राइव) या शक्तिस्रोत होता है जिसे 'लिबिडो' कहते हैं और जो मुख्यतः कामको प्रेरित करता है। यह शक्तिस्रोत हमारे मानसिक जीवनके विस्तृत अचेतन खण्ड (अनकौन्शस पार्ट औफ़ अवर मेन्टल लाइफ़) से उत्पन्न होता है। हमारे पूर्ण 'स्व' को यदि विभक्त करके देखा जाय तो उसके तीन पक्ष मिलेंगे—१. इड़ या आदिम जीव-प्रकृति (प्रिमिटिव एनिमल नेचर), जिसे बहुतसे लोगोंने केवल ध्वनिसाम्यके कारण भूलसे 'इदम्' कहना प्रारम्भ किया है; २. विवेक (ईगो); और ३. नैतिकता या धर्म (सुपर-ईगो)। इनमेंसे हमारी आदिम जीव-प्रकृति या 'इड' तो हमारे अचेतन (अन्कौन्शस) में स्थित होकर सदा शक्तिस्रोत या कामशक्ति (लिबिडो) को तृप्त करनेका प्रयत्न करती रहती है। हमारा विवेक (ईगो) उस आदिम जीव-प्रकृतिकी पाशविक उत्प्रेरणाओं (एनिमल अर्जेज़) पर नियन्त्रण करता चलता है और उनमेंसे अनैतिक या असामाजिक उत्प्रेरणाओंको दबाकर अचेतनमें ढकेल देती है तथा सामाजिक उत्प्रेरणाओंको व्यक्त होनेका अवसर देता रहता

है। चैतन्य (कौन्शस) से मिलता-जुलता हमारा नैतिक-स्व या 'सुपर-ईगो' उन नैतिक भावोंका भण्डार है जिन्हें समाजने मान्य कर लिया है। यही 'नैतिक स्व' हमारे विवेकको प्रेरणा देकर हमारी आदिम प्रकृतिकी असामाजिक प्रवृत्तियोंको दबानेमें योग देता है। इस प्रकार हमारे नैतिक-स्व (धर्म-भावना या सुपर-ईगो) और आदिम प्रकृतिमें जो निरन्तर सङ्घर्ष चलता रहता है उसे हमारा विवेक सुलझाता चलता है। साधारण व्यक्तियोंमें यह सङ्घर्ष सफलतापूर्वक सुलझ जाता है किन्तु असाधारण व्यक्तियोंमें यह सङ्घर्ष बड़ी विषमता उत्पन्न कर देता है जिसके कारण उनमें अनेक प्रकारके रोग, दुःख, सङ्कट और क्लेश आ खड़े होते हैं।[?]

व्यक्तित्वके विकासका विवरण देते हुए फ्रौयडने समझाया है कि 'बच्चेका शक्तिस्रोत (लिबिडो) अनिर्दिष्ट होता है। आत्म-मोह या स्वयं अपनेपर ही रीझ उठनेकी (नार्सिसिस्टिक) अवस्थामें बच्चेका शक्तिस्रोत स्वतः उसीकी ओर घूम जाता है जैसे नार्सिसस स्वयं अपनी ही परछाहीं देखकर उसीपर लट्टू हो गया था। जब बच्चा चार-पाँच बरसका होता है तब उसका शक्तिस्रोत अपनेसे भिन्न व्यक्तियों अर्थात् अपने माता-पितामेंसे किसीकी ओर मुड़ जाता है।' इसी आधारपर फ्रौयडका मत है कि 'बाल्यावस्थामें ही बच्चेमें काम-प्रवृत्तिका विस्फोट हो जाता है। इसके कारण छोटा बालक तो अपनी माँपर आसक्त होकर अपने पितासे घृणा

करने लगता है और छोटी बालिका अपने पितापर रीझकर अपनी माँसे घृणा करने लगती है। यह व्यवहारमें 'ओडिपस ग्रन्थि' (ओडिपस कौम्प्लैक्स) कहलाती है और यह ग्रन्थि कुमार अवस्थामें तबतक बनी रहती है जबतक वह अपनेसे भिन्न-लिङ्गीको (लड़का लड़कीको और लड़की लड़केको) प्रेम न करने लगे या उसकी ओर आकृष्ट न हो जाय।'

यद्यपि सुसान आइज़ाक्स, गिलबर्ट वी० हैमिल्टन आदि आचार्योंने फ्रौयडके मतका समर्थन अवश्य किया है किन्तु अनेक प्रयोग करके देखा गया कि यह मत अत्यन्त अप्रामाणिक है। टर्मनने स्वयं कहा है कि 'मैंने परीक्षण करके देखा तो किसी भी लड़केको अपनी माताके प्रति और किसी भी कन्याको अपने पिताके प्रति आसक्त नहीं पाया वरन् विचित्र बात

---

१. नारकिसस (नरगिस): यूनानी कथाके अनुसार जलदेवता केफ़िसस और वनदेवी लेइरिओपीका पुत्र नारकिसस अत्यन्त सुन्दर था। उसे शाप मिला था कि यदि अपना रूप देख लेगा तो चिरजीवी नहीं होगा अतः ज्यों ही उसने जलमें अपनी प्रतिच्छाया देखी त्यों ही वह उसपर इतना मुग्ध हो गया कि वहीं घुल-घुलकर उसने प्राण दे दिए जिसके बदले वहींपर नरगिसका फूल निकल आया।

२. ओडिपस : यूनानी कवि होमरने लिखा है कि ओडिपसने अपने माता-पितासे परिचित न होनेके कारण पिताको मार डाला और अपनी माता एपिकास्ती (योकास्ता) से विवाह कर लिया। माताको जब यह रहस्य ज्ञात हुआ तब वह गलेमें फाँसी लगाकर मर गई।

यह पाई गई कि लड़के और लड़कियाँ दोनों ही, माँको अधिक प्यार करते हैं।' अतः, बालकोंके व्यक्तित्वके विकासके सम्बन्धमें फ्रौयडके शक्ति-स्रोत (लिबिडो) के विकासका समर्थन यदि होता भी है तो अनेक अपवादोंके साथ ।

बालकके व्यक्तित्व-विकासमें सामाजिक योग

विलियम जेम्स तथा जेम्स एम्० बाल्डविन आदि अनेक प्रारम्भके मानस-शास्त्रियोंने प्रयोग करके अङ्कित किया है कि 'बच्चेके प्रारम्भिक सामाजिक संसर्गसे उसके सामाजिक 'स्व' या व्यक्तित्वके निर्माणमें अत्यन्त सहायता मिलती है।' समाज-शास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य चार्ल्स एच्० कूलीने कहा है कि 'माता, पिता या अन्य जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें बच्चा निरन्तर रहता है उनका ही बालकपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।' कूलीका मत है कि 'विचार, प्रवृत्ति, यहाँतक कि मेधा-युक्त निजत्व (सेल्फ़हुड) या व्यक्तित्व भी अधिकांश इस बातपर अवलम्बित होता है कि बच्चा जिनके साथ रहता है वे किस स्वभावके हैं और वे बालकके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते हैं।'

दर्शन-शास्त्री जौर्ज एच्० मीडका विश्वास है कि 'बालक जब पहले-पहल समाजके सम्पर्कमें आता है तब वह अभिनेता बनकर अपने सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंका अभिनय करने लगता है। अतः पहले तो वह माता या पिताका अनुकरण करता है, फिर आगे चलकर पुलिसमैन, रसोइए, दूकानदार

या ग्वालेका अभिनय करता है। इन्हीं वास्तविक या काल्पनिक व्यक्तियोंका अनुकरण करनेसे उसके व्यक्तित्वके व्यापक व्यवहारका रूप या साँचा ढल निकलता है।'

सामाजिक परिस्थिति और वातावरण

समाज-शास्त्रियों और नर-शास्त्रियोंका मत है कि 'व्यक्तित्वके विकासमें परिस्थिति और वातावरणका बहुत महत्त्व होता है।' विलियम आइ० टौमस और फ्लोरियन ज़्नानिएकीने पोलैण्डसे संयुक्त राज्य अमरीकामें आए हुए कुछ ग्राम-प्रवासियोंका अध्ययन करके देखा कि 'अमरीकाके नये वातावरणमें आते ही उनके व्यक्तित्व, उनकी प्रवृत्ति और उनके सामाजिक व्यवहारमें बड़ा परिवर्त्तन हो गया।' टौमस और उसके साथी समाजशास्त्री अर्नेस्ट डब्ल्यू० बर्गेस और एल्सवर्थ फ़ारिसका विश्वास है कि 'मनुष्य जिन संस्कृतियोंके वातावरणमें रहते हैं और जिन सांस्कृतिक परिवर्त्तनोंका अनुभव करते हैं उनका भी उनके व्यक्तित्वपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।'

प्रसिद्ध अमरीकी नर-शास्त्रिणी मार्गैरेट मीडने प्रशान्त महासागरके समोआ द्वीपकी कुछ (बारहसे सोलहके बीचकी अवस्थावाली) कुमारियोंकी परीक्षा करके देखा कि 'अमरीकाकी उस अवस्थाकी कन्याओंमें जो मानसिक क्षुब्धता या कामोत्तेजना (स्टौर्म ऐन्ड स्ट्रैस) मिलती है वह उन लड़कियोंमें नहीं है' क्योंकि वहाँकी प्रथाके अनुसार उनका बचपनमें ही विवाह हो जाता है। वहाँ प्रत्येक सयानी लड़कीका समाजमें अपना

विशेष स्थान और सम्मान होता है। वे अपने मनमें काम-भावना आते ही उसकी तृप्तिके लिये जिसे चाहें उसे वर सकती हैं। किन्तु अमरीकी संस्कृतिके अनुसार कन्याके अधिकार और सुविधाओंपर माता-पिताका नियन्त्रण होता है और वे ही अच्छे-बुरे तथा उचित-अनुचित वरका निर्णय करते हैं। यद्यपि अमरीकामें कुछ कन्याएँ तो चौदह वर्षकी अवस्थामें ही मिलने-जुलनेका काम (डेटिङ्ग) करने लगती हैं किन्तु अधिकांश कन्याओंके अभिभावक बीस वर्षकी अवस्थातक उन्हें किसीसे मिलने-जुलने नहीं देते, इसीलिये उनमें कामोत्तेजना इतनी तीव्र होती है। पर समोआकी सयानी लड़कियाँ अपनी रजस्वला या परिपक्व अवस्थाको बिना किसी मानसिक सङ्घर्षके ही पार कर लेती हैं। इससे यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि सयानेपनमें जो विशेष प्रकारकी मानसिक व्याधियाँ होती हैं वे शारीरिक कारणोंके बदले सामाजिक कारणोंपर अधिक अवलम्बित हैं।' डा० मीडने अपने पड़ोसके उन तीन प्रदेशोंके समाजोंके पुरुषों और स्त्रियोंके मानसिक अन्तरका अध्ययन किया जो सांस्कृतिक दृष्टिसे पूर्णतः परस्पर विरोधी थे। इस अध्ययनसे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि 'पुरुष या स्त्रीका स्वभाव स्थानीय परम्परा तथा रीति-नीतिपर बहुत कुछ अवलम्बित होता है।' वे कहती हैं कि 'आरापेशके लोगोंका नियम है कि नम्र और सहयोगपूर्ण स्वभाववाले पुरुषका विवाह नम्र और

सहयोगशील स्त्रीसे किया जाय; मुण्डुगुमोरके लोगोंका आदर्श है कि अत्यन्त क्रोधी और असहनशील पुरुषका विवाह वैसी ही क्रोधी और असहनशील स्त्रीसे किया जाय; और चाम्बुलीमें देखा गया कि अमरीकी संस्कृतिकी नर-नारी-भावनासे वहाँकी नर-नारी-भावना पूर्णतः विपरीत है। वहाँ स्त्री तो प्रबल, प्रभावशाली, असुन्दर और प्रबन्धक होती है और पुरुष अत्यन्त कम उत्तरदायित्व वहन करनेवाला, दीन तथा पराश्रित होता है। इन तीनों परिस्थितियोंसे यह परिणाम निकला कि नम्रता, सहनशीलता और बच्चोंका पालन-पोषण करनेकी प्रवृत्ति आदि जिन गुणोंको हम लोग स्त्रियोचित मान बैठे हैं वे एक जातिमें पुरुषोचित भी बनाए जा सकते हैं और दूसरीमें पुरुष और स्त्री दोनोंके लिये पूर्णतः त्याज्य भी किए जा सकते हैं। अतः यह मानना ठीक नहीं है कि स्त्रियों या पुरुषोंके स्वभाव कुछ अलग-अलग होते हैं, विशेषतः जब कि चाम्बुलीके नर और नारी दोनों हमारी भावनासे ठीक उलटे स्वभावके मिलते हैं।'

दूसरे प्रसिद्ध अमरीकी नर-शास्त्री रथ बैनेडिक्टने बताया है कि 'विभिन्न संस्कृतिवालोंमें अत्यन्त विशेष प्रकारका व्यक्तित्व-भेद होता है। न्यू मैक्सिकोके ज़ूनी इण्डियनोंके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको जातीय संस्कारोंमें बँधकर ही रहना चाहिए, उसके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिए। इसलिये उनमें न तो व्यक्तिवाद ही है न नया कार्य करनेका उत्साह ही है। इससे

ठीक उलटे न्यू गायनाके दोबुवाँ लोग हैं जो मन्त्र-तन्त्र और जादू-टोनेमें विश्वास करते हैं। अतः वे अत्यन्त प्रतिस्पर्धी, धूर्त्त और प्रपञ्ची होते हैं। क्वाकिउत्लके लोग कीर्त्ति, महत्ता और आत्मप्रतिष्ठाको बहुत महत्त्व देते हैं। अतः, समाजके व्यक्तियोंके व्यक्तित्व-निर्माणमें जातीय प्रभाव भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते यद्यपि इसके अपवाद भी कुछ कम नहीं है।' व्यक्तित्वपर परिस्थिति या वातावरणके प्रभावकी परीक्षा करते हुए मैंडेल शेरमनने यह खोज निकाला कि 'वर्जीनियाकी सुदूर पहाड़ी खोहोंमें रहनेवाले बच्चोंमें कल्पना और आत्मस्फूर्ति अर्थात् स्वतः कोई काम करनेकी वृत्ति (इनेशिएटिव) बहुत कम होती है, यहाँतक कि न तो वे कोई खेल खेलते हैं, न उनका कोई सामाजिक सङ्घटन है, न उनमेंकिसी बातकी प्रतियोगिता ही होती है, न उन्हें किसी बातपर निराशा (फ्रस्ट्रेशन) ही होती है। वहाँके बच्चे और बूढ़े दोनों एकसे ही हैं और ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों अपने सयाने-सम्बन्धियोंके समान स्फूर्तिहीन, उदासीन और अन्धविश्वासी होते जाते हैं।'

येल विश्वविद्यालयके श्री जौन डौलर्डका मत है कि 'व्यक्तित्वका विकास समझनेके लिये कोई निश्चित सामाजिक और सांस्कृतिक कसौटी काममें लानी चाहिए अर्थात् किसी व्यक्तिका व्यक्तित्व समझनेके लिये उसकी सामाजिक परिस्थितिकी रीति-नीति तथा उसके परिवारका सावधानीसे अध्ययन कर लेना चाहिए क्योंकि उसके व्यक्तित्वपर परिवारका

भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता है। इसीके साथ-साथ उसकी शारीरिक तथा सामाजिक शक्तियोंके पारस्परिक प्रभावका सम्बन्ध भी समझ लेना चाहिए क्योंकि जीवन-भर उसका व्यक्तित्व उसके विशेष सामाजिक वातावरणसे ही सम्बद्ध रहता है।' लौरेन्सवासी श्री फ्रैंकका कथन है कि 'वास्तवमें बालकके शरीरमें ही उसकी संस्कृति अन्तर्हित रहती है क्योंकि संस्कृति या व्यावहारिक रीति-नीति ही यह निश्चय करती है कि भोजन कितनी-कितनी देरसे करना चाहिए, बच्चोंको कितने समयपर दूध पिलाना चाहिए, अपना बनाव-सिङ्गार कैसे करना चाहिए आदि। मनुष्यकी वे सब परिस्थितियाँ भी इसीके अन्तर्गत आ जाती है जिनमें मनुष्य भावात्मक उत्तेजना या उद्वेगके साथ काम करता है। इसके अतिरिक्त माता-पिता अपने बच्चोंको व्यवहारकी जो प्रणालियाँ सिखाते हैं वे सभी सांस्कृतिक देन ही हैं जिनमें नैतिक विचार, सामाजिक प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ प्रमुख होती हैं।' फ्रैंकका मत है कि 'संस्कृतिकी आधार-भूमिसे ही व्यक्तित्व फूटकर निकलता है।'

४

घरके वातावरणका प्रभाव

सब मानस-शास्त्री अब इस बातपर प्रायः एकमत हैं कि हमारे व्यक्तिगत स्वभाव या व्यक्तित्वके लक्षण स्थिर करनेमें सामाजिक कारण सबसे अधिक महत्त्वके होते हैं। इन सामाजिक कारणोंमें सबसे पहले आता है परिवार। प्रायः सभी कुटुम्बियोंमें माता-पिता और घरकी परिस्थितियाँ मिलकर बच्चेके प्रारम्भिक वर्षोंमें बालककी प्रवृत्तियोंका निर्माण करती हैं। जिस परिवारके माता-पितामें परस्पर सद्भाव और प्रेम होता है और वे बच्चेसे स्नेह करते और बच्चा उनसे स्नेह करता है, उस शान्त वातावरणमें बालकके व्यक्तित्वका अधिक व्यवस्थित विकास होता है। जिन घरोंमें माता-पिता दिन-रात लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज करते, बच्चोंको दिन-रात डाँटते-फटकारते और मारते-पीटते रहते हैं उस अशान्त वातावरणमें उत्पन्न होने और पलनेवाले बालक बड़े अटपटे चरित्रवाले होते हैं।

सिरिल बर्ट नामक अँगरेज मानस-शास्त्रीने बहुतसे अपराधी बच्चोंके घरेलू वातावरणका अध्ययन करके परिणाम निकाला कि 'अट्ठावन प्रतिशत अकर्मण्य और अपराधी बालक उन परिवारोंसे आते हैं जिनमें या तो लड़ाई-झगड़ा होता रहता है या माता-पितामेंसे कोई मर गया है, या दोमेंसे एक तलाक़ देकर छोड़ गया है या दोनोंमेंसे कोई एक प्रायः अनुपस्थित रहता है, जिससे घरमें बालककी देख-भाल ठीक नहीं हो पाई। शेषमेंसे केवल २९ प्रतिशत बालक कलहपूर्ण घरोंमें उत्पन्न होनेपर भी अकर्मण्य नहीं निकले।' इस प्रकारके बारह अध्ययनोंसे लगभग यही परिणाम निकला। इन सब अध्ययनोंमें व्यापक बात यह मिली कि जहाँ माता-पितामेंसे कोई एक नहीं था उस परिवारके बालकका व्यक्तित्व और चरित्र अवश्य बिगड़ा पाया गया। इन परिणामोंके आधारपर अनेक मानस-शास्त्रियोंने व्यापक सम्मति दी है कि 'परित्याग (तलाक़) की प्रथा समाजके लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई है।' यह दुःखकी बात है कि इस सम्बन्धमें इतना मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो चुकने और परिणाम प्रकट होनेपर भी आज हमारे देशमें ऐसे लोग जन्म ले रहे हैं जो परित्याग (तलाक़) का समर्थन करके समाजको नष्ट करनेपर तुले हुए हैं। हौर्नेल हार्ट और ई० बी० हार्ट नामक समाज-शास्त्रियोंने कारण देकर समझाया है कि माता-पिताके निरन्तर कलहके कारण बच्चोंका व्यक्तित्व किस प्रकार बिगड़ जाता है। उनका कहना है कि

'सब बच्चे अपने माता और पिता दोनोंके साथ अलग-अलग अत्यन्त निकटतम भाव-सम्बन्ध बना लेते हैं। अतः जब उन दोनोंमें अर्थात् माता-पितामें झगड़ा होता है तब बच्चेके व्यक्तित्वमें भी स्वतः गम्भीर सङ्घर्ष उठ खड़ा होता है जिसके कारण वह असामाजिक (अनैतिक) या असाधारण व्यवहार करने लगता है।' वीयनाके मानस-शास्त्री आउगुस्ट आइख़हौर्नने बताया है कि 'मेरी संस्थामें जितने भी कामचोर, भगोड़ और दुष्ट लड़के हैं वे सबके सब अनमेल या कलहपूर्ण घरोंसे ही आए हैं।' विन्नेत्काकी बालमानस-शास्त्रिणी ला बेर्ता डब्ल्यू० हाटविक़ने अनेक बच्चोंका परीक्षण करके देखा कि 'अत्यन्त प्रारम्भिक कक्षाओंमें शान्त और सुखी परिवारोंसे जो बच्चे आए हैं वे परस्पर बड़े सद्भावसे व्यवहार करते, एक दूसरेका बहुत ध्यान रखते और परस्पर एक दूसरेसे बड़ा स्नेह करते हैं। उनमें ईर्ष्या, भय, घबराहट या उदासी कुछ भी नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत, जो बच्चे झगड़ालू परिवारोंसे आए हैं वे विद्यालयमें भी लड़ते-झगड़ते हैं, एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, हल्ला मचाते हैं, डरते हैं, घबराते हैं और एक दूसरेकी भावनाओंका आदर नहीं करते।' लुइ एन्० टर्मन तथा शिकागो विश्वविद्यालयके समाज-शास्त्री अर्नेस्ट डब्ल्यू० बर्गेस और लियोनार्ड एस्० कौट्रेलने प्रयोग करके बताया है कि 'बचपनमें जिन लोगोंके परिवारोंका वातावरण अशान्त नहीं रहा और जिनके माता-पिताका दाम्पत्य जीवन सुखी और

स्नेहपूर्ण रहा है उनका अपना दाम्पत्य जीवन भी निश्चित रूपसे सुखी रहता है।'

माता-पिता और बच्चेका सम्बन्ध

सिग्मण्ड फ्रौयडका मत है कि 'माता-पिता अपने बच्चेके साथ जैसा व्यवहार करेंगे उसीके अनुसार बालकमें भी स्नेह, चिन्ता या घृणा उत्पन्न हो सकती है। माता-पिताके अत्यधिक लाड़-प्यारसे बालक ऐसे बिगड़ जाते हैं कि आगे चलकर उन बालकोंको अनेक प्रकारकी स्नायविक बीमारियाँ हो जाया करती हैं।' मनुने तो स्पष्ट कह दिया है—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रञ्च शिष्यञ्च ताडयेन्न तु लालयेत्॥

[लाड़ करनेमें बहुतसे दोष हैं और ठीक देख-भाल करनेमें बहुतसे गुण हैं। इसलिये बच्चोंको लाड़-प्यारमें न रखकर डाँट-फटकारमें रखना चाहिए।]

मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनोंसे भी अधिक वैज्ञानिक अध्ययन करके यह जाननेका प्रयत्न किया गया कि बालकके व्यक्तित्वके विकासपर पारिवारिक परिस्थितिका क्या प्रभाव पड़ता है। सिरिल बर्टने अनेक बालकोंका अध्ययन करके परिणाम निकाला कि '६१ प्रतिशत अपराधी या भगोड़ बालक उन घरोंसे आए थे जिनका पारिवारिक वातावरण दोषपूर्ण था और केवल १२ प्रतिशत बालक ऐसे थे जो अच्छे-शान्त

सुखी परिवारोंसे आनेपर भी अपराधी प्रकृतिके थे।' आउगुस्ट आइखहौर्नने अपने परीक्षणके परिणामके आधारपर यह सिद्धान्त निकाला कि 'बालकोंमें जो व्यवहारकी अनेक जटिल समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं वे ठीक देख-भाल न होनेके कारण भी उतनी ही होती हैं जितनी अधिक देख-भाल या अधिक सँभालके कारण। बालकोंमें अपराधकी भावना मुख्यतः तब उत्पन्न होती है जब माता-पिता उससे चिढ़ते रहते और उसे दुतकारते रहते हैं। यह अपराध-वृत्ति अत्यधिक प्यारके कारण नहीं होती क्योंकि अत्यधिक प्यारसे तो बालकमें लड़कपन और भोंदूपन ही आता है।'

रिचार्ड एच्० पेण्टर और फ़िलिस ब्लैङ्कार्ड नामक चिकित्सक मानस-शास्त्रीने कुछ अपराधी बालकों तथा कुछ अत्यन्त समस्यापूर्ण व्यवहारवाले बालकोंको अपनी प्रयोगशालामें ले जाकर वहाँ उनके घरेलू वातावरणकी सब परिस्थितियोंका परीक्षण किया। उस परीक्षणसे ज्ञात हुआ कि '९० प्रतिशत बालकोंकी घरेलू परिस्थितियाँ, घरपर दी हुई शिक्षा और देख-रेखकी शैली अत्यन्त दोषपूर्ण थी।' शैल्डन और इलियानोर ग्लूएक नामक मानस-चिकित्सकोंने अपने अध्ययनसे परिणाम निकाला कि '७० प्रतिशत अपराधी बालकोंके माता-पिता अपने घरेलू व्यवहारमें उनके प्रति या तो अत्यधिक कठोर रहते हैं या अत्यधिक शिथिल और उदासीन।'

व्यक्तित्वके अध्ययनके विशेषज्ञ रौस स्टैग्नरने बतायी है

कि 'जो माता-पिता अपने बालकोंको अत्यधिक दण्ड देते हैं, उनके बालक विद्रोही, अपराधी, अत्यन्त दीन, बैठे-बैठे कल्पनाके स्वप्न देखनेवाले, गुमसुम होकर दिन-रात सोचते रहनेवाले और बाहरसे अत्यन्त नम्र और आज्ञाकारी प्रतीत होते हुए भी हृदयसे अपने माता-पितासे शत्रुता रखते हैं। ये सभी बातें व्यक्तित्वके विकासपर बहुत बुरा प्रभाव डालती हैं।'

न्यूयार्कके मानस-चिकित्सक मेरियन केनवर्दी और डैविड एम्० लैवीने बालकके सामाजिक व्यवहार और व्यक्तित्व-निर्माणके लिये माता-पिताकी उदासीनता या अधिक लाड़-प्यारको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण बताया है। लैवीका कथन है कि 'जहाँ अधिक देखभाल इस सीमातक पहुँच जाती है कि बालक सदा शासनमें ही रहनेके लिये विवश किया जाता वहाँ बालक अत्यन्त विनम्र, दीन और पराश्रित हो जाता है। जब यह अत्यधिक देख-रेख लाड़-प्यारके रूपमें भी बदल जाती है तब भी उसका परिणाम यही होता है कि बालक चौपट होकर नटखट और अपराधी बन जाता है।' जज बेकर फाउन्डेशनके सदस्य विलियम हीली और आउगुस्टा ब्रोनरने अधिक उद्विग्न बालकोंका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि "भावात्मक या मनोवेगात्मक अस्थिरताका सबसे बड़ा कारण माता-पिता द्वारा उपेक्षा (रिजेक्शन) या उदासीनता है।' कोलम्बिया विश्वविद्यालयके परसिवल एम्० सिमन्ड्सने ३१ तो ऐसे बच्चे लिए जिन्हें उनके माता-पिता प्यार-दुलार

करते थे, ३१ बच्चे ऐसे लिए जिन्हें उनके माता-पिता उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे और ३१ बच्चे ऐसे लिए जिन्हें न उनके माता-पिता बहुत प्यार ही करते थे न बहुत देखभालमें ही रखते थे। इनका अध्ययन करनेपर व्यापक रूपसे देखा गया कि 'जिन बच्चोंको माता-पिता प्यार करते थे वे अधिक स्थिर भाववाले, अधिक सामाजिक, शान्त तथा सब बातोंमें अधिक रस लेते थे और जिनके माता-पिता प्यार नहीं करते थे उनमें भावावेगोंकी अस्थिरता (इमोशनल इन्स्टेबिलिटी), अशान्ति, उदासीनता और विद्रोह भरा हुआ था।' इसीके साथ-साथ सिमन्ड्सने २८ ऐसे बच्चे लिए जिनके माता-पिता उनके ऊपर कड़ा शासन रखते थे और २८ ऐसे बच्चे लिए जिनके माता-पिता सब बातोंमें उन बच्चोंकी ही कही करते थे। इन बालकोंके व्यक्तित्वका अध्ययन करके उसने देखा कि 'जो बालक माता-पिताके दबावमें रहे वे अधिक नम्र, सुशील, विश्वस्त और शीघ्र वशमें होनेवाले तो थे किन्तु साथ ही वे बड़े चौकन्ने लजालू और स्फूर्तिहीन भी थे। इसके विपरीत अपने बच्चोंकी मनचाही करनेवाले माता-पिताओंके बच्चे अनाज्ञाकारी, उद्दण्ड, झगड़ालू और हठी तो थे किन्तु साथ ही वे स्वतन्त्र भावनावाले, मनस्वी, व्यवहार-कुशल और चलते-पुरज़े भी थे।' इन दोनों अच्छे और बुरे परिणामोंका सन्तुलन करके सिमण्ड्सने यही परिणाम निकाला कि 'बच्चोंपर न तो बहुत कड़ाई रखनी चाहिए और न बहुत उनकी मनचाही करनी चाहिए, परन्तु

दोनोंके बीचका व्यवहार रखना चाहिए अर्थात् कुछ भयकी भावना बनाए रखकर उनका लाड़ करना चाहिए क्योंकि भय बिनु होइ न प्रीति।'

परिवारमें बालककी स्थिति

ऐल्फ्रेड ऐडलरका मत है कि 'मनुष्यकी एक ही मुख्य वृत्ति है और वह है बड़ा बननेके लिये निरन्तर प्रयास, जो वास्तवमें मनुष्यकी आत्महीनताकी भावनाओंकी प्रतिक्रिया है। घरके छोटे बच्चे अपने बड़े भाइयों और बहनोंसे अपनेको छोटा समझते रहते हैं अतः वे अपने छोटे होनेकी कमी पूरी करनेके लिये सदा उनसे किसी न किसी बातमें बड़े होनेका प्रयास करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि बच्चेका व्यक्तित्व इस बातपर बहुत अवलम्बित है कि परिवारमें उसका क्या पद है अर्थात् वह सबसे बड़ा है, मँझला है, सबसे छोटा है या केवल बच्चा है।'

किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। पं० मदनमोहन मालवीयजी अपने आठ भाई बहनोंमें पाँचवें थे किन्तु वे सबसे अधिक प्रसिद्ध, बुद्धिमान्, यशस्वी, धर्मनिष्ठ, त्यागी और उदारचेता सिद्ध हुए। योरपमें भी इस सम्बन्धमें जितने अध्ययन किए गए उनके परिणाम परस्पर-विरोधी और अपूर्ण रहे। गार्डनर मर्फ़ी, लुई मर्फ़ी और थियोडोर न्यूकूम्बने अपने 'ऐक्सपेरिमेन्टल सोशल साइकोलौजी'

(प्रयोगात्मक सामाजिक मानस-शास्त्र) में ५० बालकोंका अध्ययन करके यह परिणाम निकाला 'कि परिवारमें किसी बालकका कौनसा क्रमिक स्थान है, इसका कोई प्रभाव व्यक्तित्व-पर नहीं पड़ता। इसकी अपेक्षा परिवारका मानस-व्यवहार अधिक महत्त्वका होता है अर्थात् परिवारमें माता, पिता, और भाई बहन उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं और उसका अपने परिवारके सदस्योंके प्रति कैसा भाव है इसका अधिक प्रभाव पड़ता है।' अतः सामाजिक मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे परिवार और बालकका पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य विचारणीय होता है।

५

बाहरी समाजका प्रभाव

सभ्य देशोंके अधिकांश बालकोंका सामाजिक सम्पर्क परिवारके पश्चात् विद्यालयसे हो जाता है किन्तु बालकका व्यक्तित्व निर्माण करनेमें घरकी अपेक्षा विद्यालयका बहुत कम हाथ रहता है। जिन देशोंमें सार्वजनिक शिक्षा अनिवार्य है या जहाँ पढ़ने-लिखनेकी प्रवृत्ति अधिक है, वहाँ अधिकांश बच्चोंको दस या बारह वर्षतक विद्यालयमें पढ़ना पड़ता है। अतः उनकी बौद्धिक (इन्टेलेक्चुअल), भावावेगात्मक (इमोशनल) और सामाजिक अभिवृद्धिपर इस बातका अधिक प्रभाव पड़ता है कि उनके विद्यालय और अध्यापक कैसे थे। न्यूयार्ककी प्रसिद्ध मानस-चिकित्सिका ईरा एस० वाइल्ने सिद्ध किया है कि 'विद्यालयके ज्ञान-स्तरतक पहुँचनेमें मन्द बालकको बड़ी कठिनाई होती है। यदि उसपर व्यक्तिगत ध्यान न दिया जाय और उसे विशेष वर्गमें न रक्खा जाय तो वह अपनी पढ़ाईकी अशक्तताके कारण या तो खुला सक्रिय विद्रोह करेगा

या निष्क्रिय रूपसे बैठा शेख़चिल्लीके स्वप्न देखा करेगा। व्यक्तित्वके विकासमें इन दोनों ही बातोंका बहुत बुरा परिणाम होता है और इसीलिये अध्यापकोंको जब छात्रोंके व्यक्तित्वकी जटिलताओंसे उलझना पड़ता है तब उनका काम बड़ा टेढ़ा हो जाता है।' बाल-मानस-शास्त्री जौन जे० बी० मौर्गन और कैरोलाइन ज़ाख़ीने 'बच्चोंके व्यक्तित्वमें अनमेलपन' (मैल-एडजस्टमेंट्स) पर लिखी हुई पुस्तकोंमें बार-बार कहा है कि 'जिन बालकोंका व्यक्तित्व ठीक-ठीक नहीं विकसित हो पाता, वे उपद्रवी (ऐग्रेसिव), झगड़ालू, दुष्ट, भयातुर, दिन-रात कल्पना करनेवाले, अत्यधिक पराश्रित तथा चिन्ताशील हो जाते हैं और अभाग्यवश अधिकांश अध्यापकोंको ऐसी शिक्षा ही नहीं मिलती कि वे ऐसे छात्रोंकी व्यवहार-समस्याओंका ठीक-ठीक समाधान कर सकें।' ई०के० विकमैनने अध्यापकोंसे बातचीत करके यह परिणाम निकाला कि 'व्यभिचार, असत्य-भाषण, धोखा देना, दुःशीलता, भगोड़पन और कामचोरीको ही अधिकांश अध्यापक बहुत बड़ी समस्या मानते हैं। वे बच्चोंके अकेलेपन और सबसे दूर हटकर रहनेकी बातको कुछ महत्त्व ही नहीं देते हैं।' किन्तु अधिकांश मानस-चिकित्सकोंका मत है कि 'असामाजिक व्यवहार अर्थात् अकेले रहने या किसीसे मिलने-जुलनेसे जी चुरानेका अभ्यास भी बड़ा गम्भीर रोग है और यही सिद्ध करता है कि उसका व्यक्तित्व कुछ गड़बड़ है, अव्यवस्थित है।'

अध्यापकका प्रभाव

यह देखा गया है कि छात्रोंपर अध्यापकोंका बहुत प्रभाव पड़ता है वह चाहे प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। मार्क ए॰ मे और ह्यू हार्टसहोर्नने कुछ छात्रोंकी सद्वृत्ति या ईमानदारी (ऑनेस्टी) का अध्ययन करके देखा कि अत्यन्त सम्मानित, लोकप्रिय और प्रशंसित अध्यापकोंके छात्र अन्य लोगोंके साथ बहुत कम प्रवञ्चनाका व्यवहार करते हैं और जो अध्यापक लोकप्रिय नहीं हैं, जिनसे विद्यार्थी घृणा करते हैं या जिनकी पढ़ाई वे ठीक नहीं समझते, उनके छात्र अधिकांश सबको धोखा देते हैं।' विलियम सी॰ ट्राउने एक अत्यन्त उत्तेजनशील छोटी-सी बालिकाका उदाहरण देकर बताया है कि 'उसे प्रतिवर्ष जैसा अध्यापक मिलता था वैसी ही उसकी मानसिक वृत्ति हो जाया करती थी। यदि उसका अध्यापक हड़बड़िया (इम्पेशेन्ट), रौबदाबवाला (डौमिनेटिंग) या चिल्लानेवाला होता था तो वह बालिका भी अत्यन्त भयभीत हो जाती और घबरा उठती थी। जब उसने देखा कि उसके विद्यालयके आठ अध्यापकोंमेंसे केवल एक ही अध्यापक सहानुभूतिपूर्ण हैं तो उसने निश्चय कर लिया कि अब मैं अपना उपाधिपत्र लेकर फिर कभी किसी विद्यालयमें पैर ही नहीं रक्खूँगी।'

शिक्षाका प्रभाव

मनुष्यके व्यक्तित्वपर शिक्षाका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षासे विशेषतः उच्च शिक्षासे उसकी प्रवृत्तियाँ बहुत बदल

जाती हैं। डेनियल कात्स और फ्लौएड एच्० औलपोर्टने कौलेजके कुछ विद्यार्थियोंका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि 'धार्मिक विचारोंके सम्बन्धमें उच्च कक्षाके विद्यार्थी अधिक उदार थे और छोटी कक्षावाले कम।' इसी प्रकार परसिवल सिमण्ड्स आदिने परीक्षण करके यह परिणाम निकाला कि 'ज्यों-ज्यों छात्र कौलेजकी कक्षाओंमें ऊपर चढ़ते चले जाते हैं त्यों-त्यों उनकी सामाजिक और आर्थिक विचार-धाराएँ अधिक उदार होती चली जाती हैं।'

प्रायः सभी शिक्षा-प्रणालियोंमें उसकी अपनी-अपनी संस्कृतियोंके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त और आदर्श व्यापक रूपसे निहित रहते ही हैं। मार्क ए० मे और लियोनार्ड डूबने सिद्ध किया है कि 'विद्यालयोंमें परीक्षा, कक्षा-विधान, अच्छे बच्चोंके प्रति विशेष व्यवहार और खेलकूदकी प्रतिस्पर्धाएँ निरन्तर हमारी सांस्कृतिक भावनाएँ बढ़ाती रहती हैं। छात्रोंकी दैनिक क्रियाओंका परीक्षण किया जाय तो उनमें एक दूसरेको सहयोग देनेकी अपेक्षा एक दूसरेसे प्रतियोगिता करने या एक दूसरेसे आगे बढ़नेकी भावना अधिक रहती है फिर भी अध्यापक लोग उन छात्रोंको दिनरात सहयोग करनेका ही उपदेश देते चले जाते हैं।' प्रसिद्ध मनोविश्लेषणशास्त्री कारेन हौर्नीका मत है कि 'इस प्रकारकी परस्पर-विरोधी बातोंसे बच्चोंके व्यक्तित्वके भीतर सङ्घर्ष उत्पन्न हो जाता है जिससे उनके व्यक्तित्वमें बड़ा अनमेलपन (मैलएड्जस्टमेण्ट) उत्पन्न हो जाता है।'

मित्र और समाज

अपने विद्यालयके जीवनमें बालक विशेष रूपसे अपने साथियोंके साथ उठता-बैठता, बात-चीत, लेन-देन, हँसी-खेल करता, उन्हींकी क्रियाओंके अनुसार व्यवहार करता और जहाँ रहता है उस समाजको किसी परिस्थितिमें दूसरोंको जैसा करते देखता है वैसा ही स्वयं भी करने लगता है। शिकागोके मानस-शास्त्रियोंने इन साथियों और समाजोंके प्रभावोंका भी अध्ययन किया क्योंकि बच्चोंमें जो बचपनसे ही अपराध करनेकी प्रवृत्ति पाई जाती है उसका इन प्रभावोंसे बहुत सम्बन्ध है। क्लिफ़र्ड शौने इसी प्रकारका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि 'जैसा अच्छा या बुरा पड़ोस होगा उसीके अनुपातमें वहाँके अपराधी बालकोंकी संख्या भी कम-अधिक होगी। शिकागोके बाहरकी ओर पानीके बड़े-बड़े ढके हुए नालों, रेलके यार्डके बीच (लूप) के गन्दे नीचे मुहल्लों, खुले कोठों, कारखानों और टूटे गोदामोंमें रहनेवाले बालकोंमें बाल्यापराधोंका बोलबाला है और ज्यों-ज्यों आप भले आदमियों और गृहस्थोंके बँगलोंकी ओर बढ़ चलेंगे त्यों-त्यों बाल्यापराध कम होता चलेगा।' सिरिल बर्टने भी ठीक यही दशा लन्दन, फ़िलेडेल्फ़िया, बोस्टन, क्लीवलैण्ड तथा अन्य नगरोंमें पाई।

विलियम हीलीने अनेक बच्चोंकी परीक्षा करके देखा कि साथियोंके सम्पर्कसे बालकके नैतिक विचार और आचरणपर

किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। इस परीक्षासे उसने परिणाम निकाला कि 'शिकागो और बोस्टनमें जितने बाल्यापराधी मिले उनमेंसे दो तिहाई केवल कुसङ्गके कारण अपराधी बने थे।' न्यूयार्क विश्वविद्यालयके समाज-शास्त्री फ्रेडरिक एम्० थ्रेशरने शिकागोकी लगभग १३०० बदनाम टोलियोंका अध्ययन किया। इनमेंसे सभी दलोंका प्रभाव उनके सदस्योंपर बुरा नहीं पड़ा। उन्होंने देखा कि 'इन दलोंके लोग अपने छोटे-से-छोटे सदस्योंके साथ भी बहुत घुल-मिलकर रहते हैं और ज्यों ही वह सदस्य सक्रिय भाग लेने लगता है त्योंही उसे बड़ा पद दे देते हैं। ऐसी सब टोलियाँ बुरे मुहल्लोंमें ही अधिक फलती-फूलती हैं और ये अपने सम्पर्कमें आनेवाले बच्चोंको पहले तो कामचोर या भगोड़ बनाती हैं फिर धीरे-धीरे उन्हें गुण्डा (हुडलम्), अपराधी और फिर तो चोर, डाकू, लुटेरा और हत्यारातक बना डालती हैं।'

अल्पसङ्ख्यक दलकी सदस्यताका प्रभाव

किसी बदनाम या असमर्थित अल्पसंख्यक जाति या राष्ट्रीय दलके सदस्य होनेका भी व्यक्तित्वपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अमरीकाके लोग यहूदी और हब्शीके प्रति जो निरन्तर भेद-भाव, पक्षपात और घृणा दिखाते हैं उसका प्रभाव वहाँके यहूदियों या हब्शियोंके व्यक्तित्वमें अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता है। अभी हालमें जौन डौलर्ड, ई० फ्रैंक्लिन फ्रेजियर आदि जिन अन्वेषकोंने अमेरिकन यूथ कमीशनकी ओरसे हब्शी

युवकोंके व्यक्तित्वके विकासका अध्ययन किया था उन्होंने अनेक परीक्षणोंसे देखा कि 'जिन हब्शियोंके व्यक्तित्वमें प्रत्यक्ष रूपसे कोई दोष नहीं है वे भी अपनेको हीन ही समझते हैं। कुछ हब्शी ऐसे प्रचण्ड भी हैं कि अवसर पड़नेपर श्वेत लोगोंसे बदला लेनेमें भी नहीं चूकते। वहीं कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अत्यन्त आज्ञाकारी और विनम्र हैं। अतः हब्शीका व्यवहार पूर्णतः इस बातपर अवलम्बित है कि श्वेत लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, उसकी पारिवारिक शिक्षा कैसी हुई है, उसकी अवस्था, बुद्धि और आर्थिक स्थिति कैसी है और उसकी जातिमें किस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं।' किन्तु अन्य सामाजिक प्रश्नोंकी अपेक्षा इस बातका बहुत कम अध्ययन हुआ है कि किसी भी हीन समाज या जातिका सदस्य होनेसे उसके व्यक्तित्वपर क्या प्रभाव पड़ता है। अमेरिकन यूथ कमीशनने जो प्रयोग किए हैं उनसे यह निर्देश अवश्य मिलता है कि इस सम्बन्धमें भारतवासियोंको भी अध्ययन करना चाहिए और इस प्रयोगको और आगे तक ले जाना चाहिए क्योंकि हमारे यहाँ अनेक जाति और वर्ग होनेके कारण हमें अधिक सटीक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

आर्थिक कारणोंका प्रभाव

आर्थिक कारणों और परिस्थितियोंका व्यक्तित्वपर कितना प्रभाव पड़ता है यह कहना तो कठिन है किन्तु उनका प्रभाव

होता है बहुत अधिक। हमारे यहाँ यह उक्ति प्रसिद्ध है—
त्यजेत्क्षुधार्त्ता महिला स्वपुत्रं खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति॥

[भूखी स्त्री अपने बच्चेको छोड़ देती है, भूखी साँपिन अपने अण्डे खा जाती है। भूखा मनुष्य कौन-सा पाप नहीं कर डालता ? सचमुच निर्धन होनेपर मनुष्य बड़ा निर्दयी हो जाता है।]

अतः बहुतसे लोगोंको तो निर्धनता ही अपराध करनेके लिये बाध्य करती है किन्तु शिक्षा या कुल-संस्कारके कारण जिनकी वृत्ति नैतिक तथा धार्मिक हो जाती है उन्हें कम बाध्य करती है। बर्ट, हीली और ग्लूएक बन्धुओंने जो परीक्षण किए उनके आधारपर मानस-चिकित्सक सी० एम्० लाउटिटका कथन है कि 'निर्धनताकी अपेक्षा निर्धनताके साथ-साथ आनेवाली परिस्थितियों (जैसे कङ्गालोंका पड़ोस, घरपर बहुतसे लोगोंका जमघट, माता-पिताकी चिन्ता और घरका लड़ाई-झगड़ा आदि) के कारण बालकोंमें अपराधकी वृत्ति बहुत बढ़ जाती है।' न्यू जर्सीज़ एसेक्स काउन्टी जुवेनाइल क्लिनिकके मानस-चिकित्सक जेम्स एस्० प्लान्टने परीक्षण करके देखा कि 'दरिद्रताके साथ-साथ जहाँ बहुतसे लोगोंके साथ रहनेकी असुविधाएँ भी होती हैं वहाँ भी व्यक्तित्वपर बड़े बुरे प्रभाव पड़ते हैं क्योंकि अधिक लोगोंके साथ रहनेसे न तो व्यक्तिगत एकान्तता ही मिल पाती है न अपने व्यक्तित्वकी भावनाके

विकासका अथवा उन्नति करनेका अवसर ही पूरा-पूरा मिल पाता है। सबसे बड़ी विपत्ति तो यह हो जाती है कि अनिच्छा-पूर्वक अनेक विरोधी प्रकृतिवालोंके साथ बलपूर्वक मेल बैठाते हुए चलनेको विवश होना पड़ता है।'

किन्तु निर्धनतासे कुछ लाभ भी हो सकते हैं। येल क्लिनिक ऑफ़ चाइल्ड डेवलपमेण्टके सञ्चालक आर्नोल्ड गेसेल्ल और उनके एक सहयोगीने परीक्षण-द्वारा देखा कि 'अपनी अवस्थाके धनी बालकोंकी अपेक्षा निर्धन बालक अपनी देख-भाल स्वयं कर लेते हैं, यद्यपि इन निर्धन बालकोंमें बुद्धि-वैभव, बातचीतका ढंग, आत्मस्फूर्त्ति, लगन, सहयोगिता और मानसिक सन्तुलन कुछ कम होता है।' रौस स्टैग्नरने परीक्षण करके देखा कि 'कौलेजके धनी छात्रोंकी अपेक्षा वहाँके निर्धन छात्र अधिक भावाविष्ट (इमोशनल) होनेके साथ-साथ ही अधिक एकान्तप्रिय और आत्मविश्वाससे हीन भी होते हैं।' स्टैगनरने यह भी परिणाम निकाला कि 'निर्धन व्यक्ति सदा कठिनाईमें पड़े रहते हैं इसलिये दरिद्रता और कठिनाइयाँ प्रायः चरित्रको समुज्ज्वल नहीं बनने देतीं।'

येल विश्वविद्यालयके अर्थशास्त्री ई० डब्ल्यू० बक्के और कौलम्बिया विश्वविद्यालयके पौल एफ़० लज़ार्सफ़ेल्ड दोनोंका यह अनुभव और मत है कि 'मनुष्यके व्यक्तित्वपर बेकारीका ऐसा बुरा प्रभाव पड़ता है कि उसकी नैतिक शक्ति जाती रहती है, उसका आत्मविश्वास कम हो जाता है, उसमें अपने मान-

सम्मानका ध्यान नहीं रह जाता और निरन्तर बेकार रहते-रहते वह अपनेको व्यर्थ समझने लगता है।' रौबर्ट एस्० और हेलेन एम्० लिण्डने व्यक्तित्वपर आर्थिक अवस्थाके प्रभावका वर्णन करते हुए 'मिडिलटाउन' नामक पत्रमें अमरीकाके एक ठेठ छोटे नगरका यह चित्र उपस्थित किया है—

'मिड्लिटाउनके नागरिकोंमें परस्पर भेदकी खाईका कारण यह है कि वहाँका जन-समाज श्रमिक और व्यवसायी दो वर्गोंमें बँट गया है। किस व्यक्तिने किस वर्गमें जन्म लिया है इसीसे उसकी संस्कृति और उसके दिन-भरके तथा जीवन-भरके कार्योंका पूरा विवरण मिल जाता है कि वह किससे विवाह करेगा, कब सोकर उठेगा, वह ईसाई धर्मका कौन-सा पन्थ ग्रहण करेगा, वह फ़ोर्ड गाड़ीपर चढ़ेगा या ब्यूकपर, उसकी पत्नी स्यू वी डू क्लबमें जायगी या आर्ट स्टूडेन्ट्स लीगमें, वह सन्ध्याको अपनी नेकटाई उतार कर बैठेगा या पहनकर। इस प्रकार अपने नित्यके व्यवहारमें मिडिलटाउनका पुरुष, स्त्री और बच्चा स्पष्टतः दो प्रकारके आचार-विचारोंमें भिन्न बँटा हुआ व्यवहार करता रहता है।'

व्यक्तित्वका साँचा

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि बच्चेपर जो और जैसे प्रभाव पड़ते हैं उनके अनुसार उसके व्यक्तित्वका ढर्रा बनता चलता है। यद्यपि व्यक्तिका स्वभाव (अर्थात् उसकी अन्तर्हित शक्ति और उसकी भावात्मक वृत्ति आदि) उसकी

अन्तःप्रस्रविणी ग्रन्थि, स्नायविक प्रणाली तथा अन्य भौतिक या शारीरिक परिस्थितियों-द्वारा भी प्रभावित होता है, किन्तु जैसा गौर्डन ऑलपोर्टने कहा है—'इन सब कारणोंसे व्यक्तित्वका पूर्ण चित्र अभिव्यक्त नहीं होता। किसी भी व्यक्तिके व्यक्तित्वकी रूप-रेखा अर्थात् उसके गुण, लक्षण, प्रवृत्ति, रुचि, गुण और आदर्शकी समष्टि, अधिकांशतः उसके वातावरणसे बनती है। इस व्यक्तित्वके निर्माणमें बालकके घर और परिवारकी वृत्ति सबसे अधिक उत्तरदायी है किन्तु उसके विद्यालय-जीवन, मित्र-मण्डली, समाज, जाति, सामाजिक पद, आर्थिक स्थिति और उसके पूर्ण सांस्कृतिक साँचे (जिनमें वह रहता है) आदिका भी कम महत्त्व नहीं है।' किसी भी मानस-शास्त्रीके लिये यह कहना कठिन है कि इनमेंसे अपेक्षाकृत महत्त्वकी कौन-सी बात है क्योंकि अभीतक इस सम्बन्धमें जितने भी प्रयोग हुए हैं वे तो मुख्य भवन-निर्माणके लिये धरती खुरचने मात्रके प्रयासके समान अत्यन्त नगण्य हैं।

६

मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट)

आजकल भारतके किसी भी मानसशास्त्री या मानस-शास्त्रके अध्यापकसे बातचीत कीजिए, किसी भी विश्वविद्यालयकी किसी भी परीक्षाके मानसशास्त्रका प्रश्नपत्र उठाकर देखिए या भारतमें लिखी हुई कोई मनोविज्ञानकी पुस्तक पढ़िए तो उन सबमें व्यापक रूपसे मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) की लम्बी-चौड़ी चर्चा मिलेगी और वह भी मैकडुगलके मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) के सिद्धान्तके अविकल अनुवादके रूपमें। किन्तु यदि आप योरोप या अमेरिकाके किसी भी मानस-शास्त्रीसे कह-भर दीजिए कि अमुक व्यक्ति 'अपनी मूलवृत्तिके अनुसार' (इन्स्टिन्क्टिवली) काम कर रहा है। तो वह तत्काल चिढ़कर कहेगा कि 'इन्स्टिन्क्ट तो पच्चीस बरस पहले (सन् १९३० के लगभग) खोदकर गाड़ दिए जा चुके हैं क्योंकि हम जितना भी व्यवहार करते हैं वह सब पूर्णतः

या अंशतः सीखा हुआ होता है। हमारा कोई भी व्यवहार ऐसा नहीं होता जिसके लिये हम कह सकें कि यह हमारी सहज या अन्तर्जात उत्प्रेरणा (इन्बौर्न अर्ज) की ज्योंकी त्यों अभिव्यक्ति है अर्थात् हमारा कोई व्यवहार ऐसा नहीं है जिसके लिये हम यह कह सकें कि यह अपने आप बिना सीखे, बिना देखे, माँके दूधके साथ ही हममें जन्मके ही साथ आ गया था।'

तब प्रश्न यह उठता है कि क्या मूलवृत्ति नामकी कोई शक्ति है? यदि है तो ये मानसशास्त्री निद्रा, भूख, प्यास तथा इच्छा आदि उत्प्रेरणाओं (अर्जेज़) को किस श्रेणीमें ले जाकर रक्खेंगे? अतः यह उचित है कि इस मूलवृत्तिके सिद्धान्तका स्पष्ट परिचय प्राप्त कर लिया जाय क्योंकि सामाजिक मानसशास्त्रमें भी कुछ लोगोंने विशेषतः मैकडुगलने मूलवृत्तिको बड़ा महत्त्व दिया है।

सबसे पहले प्रसिद्ध दार्शनिक रैने देकार्ते (१५९६–१६५०) ने यह चर्चा चलाई थी कि 'जानवरोंका व्यवहार सहज (इन्स्टिन्क्टिव) होता है और मनुष्यका व्यवहार सज्ञान होता है।' किन्तु डारविनके पश्चात् यह मत भी अमान्य हो गया क्योंकि उसने सिद्ध कर दिया कि 'मनुष्य भी जानवरोंसे भिन्न नहीं है, वह जानवरोंका ही निखरा हुआ रूप है और वह भी जानवर ही है।' अब तो मनुष्यकी मूल वृत्तियाँ खोजी जाने लगीं और उन्नीसवीं शताब्दिके अन्ततक अनेक दार्शनिकों

और मानस-शास्त्रियोंने इन मूल प्रवृत्तियोंकी अच्छी लम्बी-चौड़ी सूची बना डाली। विलियम जेम्सने घोषणा की कि 'मनुष्यमें पशुकी अपेक्षा अधिक मूलवृत्तियाँ होती हैं।' उसने इन मूलवृत्तियोंकी जो लम्बी-चौड़ी सूची बनाई है उसमें माँका दूध चूसना (सकिङ्ग), रोना-चिल्लाना (क्राइङ्ग), सञ्चरण या इधर-उधर चलना (लोकोमोशन), कुतूहल (क्यूरियौसिटी), सामाजिकता (सोशिएबिलिटी), झेंप (शाइनैस), स्वच्छता (क्लीनलीनैस), पैरोंपर बल देकर झुकना (प्रेसिङ्ग डाउनवर्ड औन दि फ़ीट), अनुवर्त्तन (इमिटेशन), झगड़ालूपन या कलहप्रियता (पग्नैसिटी), करुणा (सिम्पैथी), अँधेरे स्थानोंका भय (फीयर औफ़ डार्क प्लेसेज़), संग्रहवृत्ति (ऐक्विज़िटिवनैस), प्रेम (लव), ईर्ष्या (जैलसी) आदि बहुत-सी मूलवृत्तियाँ गिनाई हैं। किन्तु जेम्सने यह भी कह दिया था कि 'ये मूलवृत्तियाँ अभ्याससे बदली भी जा सकती हैं।'

मूलवृत्तिके सिद्धान्तका विशाल घटाटोप खड़ा किया विलियम मैकडुगलने। उसका मत है कि 'हमारा सम्पूर्ण व्यवहार यहाँतक कि हमारा सामाजिक व्यवहार भी हमारी मूलवृत्तियोंकी ही अभिव्यक्ति है।'

मैकडुगलने इन मूलवृत्तियोंको इस प्रकार गिनाया है—
१. भय या पलायन (फ़ीयर और फ़्लाइट), २. झगड़ालूपन या कलहप्रियता (पग्नैसिटी), ३. विरति या चिढ़ (रिपल्शन), ४. कुतूहल या सब कुछ जाननेकी उत्कण्ठा (क्यूरियौसिटी),

५. आत्मोत्कर्ष या अपनेको आगे बढ़ाना (सेल्फ़ एसर्शन), ६. आत्म-तुच्छता (सैल्फ़-ऐब्रेसमेंट), ७. कामवासना (सैक्स), ८. संग्रह (ऐक्विज़िटिवनैस), ९. वात्सल्य (पेरेन्टल इन्स्टिन्क्ट), १०. सङ्घता (ग्रिगेरियसनैस), ११. आखेट (फ़ूड-सीकिंग) १२. अनुवर्त्तन या अनुकरण (इमिटेशन), १३. खेल (प्ले), और १४. भूख (हङ्गर) । उसने मुख्य और गौण मूलवृत्तियोंकी जो लम्बी-सी सूची दे डाली है उसमें मैथुन (मेटिङ्ग), छींकना (स्नीज़िङ्ग) और हँसना (लौफ़िङ्ग) तक गिनवा दिया गया है । उसका मत है कि 'इन्हीं मूलवृत्तियोंके कारण ही मनुष्यको बाह्य-प्रेरक विषयों (स्टिमुली) की' प्रतीति (पर्सेप्शन) होती है, भावावेग (इमोशन) का अनुभव होता है और वह एक निश्चित ढङ्गसे व्यवहार करता है। इनमेंसे प्रतीति (पर्सेप्शन) और व्यवहार तो बदले जा सकते हैं किन्तु भावावेग (इमोशन) हमारी मूलवृत्तिका प्राण है अतः वह कभी नहीं बदलता और यदि कुछ बदलता भी है तो बहुत कम ।' मैकडुगलका यह मत अधिकांश मानस-शास्त्रियोंने आँख मूँदकर मान लिया और और यद्यपि इसका घोर खण्डन भी हो चुका है फिर भी अनेक मानस-शास्त्री वही राग अलाप रहे हैं।

मैकडुगलके पश्चात् ऐडवर्ड एल्० थौर्नडाइकने मैकडुगलकी मूलवृत्तियोंवाली सूचीमें और भी मूलवृत्तियाँ जोड़कर उनका विश्लेषण भी किया, जैसे सामाजिकता या सङ्घवृत्ति (ग्रिगेरियसनैस्) को जोड़कर उसे कई प्रकारका

माना—एकान्तमें रहनेपर बेचैन होना, किसीकी चितवनसे प्रसन्न होकर सन्तुष्ट होना आदि। उसने अपनी सूचीमें काम-व्यवहार, पितृत्व-व्यवहार, झगड़ा, क्रोध, रौब गाँठना, दैन्य, भय, ऊबना, भोजन-संग्रह और वस्तु-संग्रहकी वृत्तियोंका भी उल्लेख किया है। थौर्नडाइकने मैक्डुगलका यह मत नहीं माना कि 'मूलवृत्ति प्रधानतः भावावेगात्मक (इमोशनल) होती है।' वह मानता है कि 'मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) को सीधे-सीधे अनसीखा व्यवहार (अनलर्न्ड बिहेवियर) मात्र कहना चाहिए।'

प्रथम महायुद्ध (१९१४ से १९१९) और उसके कुछ पूर्वतक मूलवृत्तिके सिद्धान्तोंका बड़ा बोलबाला रहा, यहाँ-तक कि मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) शब्दका प्रयोग केवल मानस-शास्त्रियों ही नहीं वरन् प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थौर्स्टाइन वेब्लेन-तकने अपनी एक पुस्तकका नाम रक्खा 'शिल्पित्वकी मूलवृत्ति' (दि इन्स्टिन्क्ट औफ़ वर्कमैनशिप); समाजशास्त्री विल्फ्रेड् ट्रौटरने एक पुस्तक लिखी 'शान्ति और युद्धमें मानवसमूहोंकी मूलवृत्तियाँ' (इन्स्टिन्क्ट्स औफ़ दि हर्ड इन पीस ऐण्ड वौर); और कुशल कार्यकर्त्ता छाँटनेकी कलामें प्रवीण औडवे टीडने 'व्यापारमें मूलवृत्तियाँ' (इन्स्टिन्क्ट्स इन इन्डस्ट्री) नामकी पुस्तक लिख दी।

प्रसिद्ध मनोविश्लेषण-शास्त्री (साइकोऐनेलिस्ट) सिगमण्ड फ़्रौयडने केवल दो मूलवृत्तियाँ मानीं—१. कामवृत्ति (सेक्स

इन्स्टिन्क्ट) और २. स्व-संरक्षण-वृत्ति (इन्स्टिन्क्ट औफ़ सैल्फ़-प्रिज़र्वेशन) । किन्तु फ्रौयडके पुराने सहयोगी तथा विश्लेषणात्मक मानसशास्त्र (ऐनेलिटिकल साइकोलौजी) के प्रवर्त्तक कार्ल जी० यूंगने तीन मूलवृत्तियाँ मुख्य मानीं— १. स्वपोषणवृत्ति (न्यूट्रीशनल इन्स्टिन्क्ट), २. कामवृत्ति (सैक्स इन्स्टिन्क्ट) और ३. सङ्घवृत्ति (हर्ड इन्स्टिन्क्ट)। किन्तु कुछ मानस-शास्त्रियोंने इस वर्गीकरणको भी अमान्य करते हुए कहा है कि 'ये तो शरीरपरक (फ़िज़ियोलौजिकल) भेद हैं, मानस-शास्त्रीय नहीं।' अतः इन लोगोंने मूलवृत्तियोंका एक नया वर्गीकरण सुझाया—१. आकर्षण (एट्रैक्शन), विकर्षण (डिट्रैक्शन) और आक्रमण (ऐटैक) की वृत्ति और २. भूख (हङ्गर) तथा प्रतिक्रिया (रिऐक्शन) की वृत्ति । इन दोनोंको भी उन्होंने सामान्य और विशेष दो भागोंमें बाँट दिया और अचेतन (अन्कौन्शस) तथा उपचेतन (सब-कौन्शस) को बड़ा महत्त्व दिया। सन् १९२४ में प्रसिद्ध समाज-शास्त्री लूथर एल्० बर्नार्डने अपनी 'मूलवृत्ति' (इन्स्टिन्क्ट) नामक पुस्तकमें लगभग चार सौ लेखकोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करके बताया कि 'मूलवृत्तिके सिद्धान्तको लोग अत्यन्त हास्यास्पद अर्थोंमें घसीट ले गए हैं, यहाँतक कि उनके ग्रन्थोंमें 'मूलवृत्ति' या 'मूलवृत्यात्मक' (इन्स्टिन्क्टिव) शब्दोंका लगभग १८०० उत्प्रेरणाओं (अर्जेज़) या क्रियाओं (एक्टिविटीज़) के लिये प्रयोग किया गया है। इनमेंसे कामवृत्ति (सैक्स) और

सामाजिक व्यवहार (सोशल बिहेवियर) आदि कुछ मूल-वृत्तियाँ तो सभीने मानी हैं किन्तु 'अपने उपवनके सेव न खाना' या 'पेड़ोंके खोखलोंमें छिपे हुए छोटे-छोटे जीवोंको वहाँसे हटानेके लिये उन खोखलोंमें उँगली डालना' आदि कुछ विचित्र बातें भी मूलवृत्तियाँ मान ली गई हैं।'

किन्तु सभी मानसशास्त्री इन मूलवृत्यात्मक (इन्स्टिन्क्टिव) क्रियाओंको सहज या जन्मजात (इन्नेट) नहीं मानते। उनका विश्वास है कि 'ये सब क्रियाएँ सीखी हुई होती हैं अर्थात् अनुकरण या अनुवर्त्तन अथवा प्रत्यक्ष रूपसे सीखकर अभ्यास डालनेके कारण ही ये सध गई हैं।' रौबर्ट एम्० यर्कीस और लियोनार्ड ब्लूमफ़ील्डने तो प्रयोग करके सिद्ध कर दिया है कि 'चूहोंको मारनेके लिये बिल्लीके बच्चोंका आक्रमण करना भी अंशतः सीखा हुआ होता है।' बहुतसे जीव पालनेवालोंका अनुभव है कि 'यदि पिल्ला और बिलोटना साथ-साथ रखकर पाले जायँ तो उनमें वह 'मूलवृत्यात्मक घृणा' (इन्स्टिन्क्टिव हेट्रेड) नहीं दिखाई पड़ती जो बड़े कुत्तों-बिल्लियोंमें पाई जाती है।' इन सब प्रमाणोंके आधारपर अनेक मानस-शास्त्री खुलकर मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) के सिद्धान्तोंका विरोध करने लगे।

मूलवृत्तिके सिद्धान्तका सबसे प्रबल विरोध किया जौन हौप्किन्सके मानस-शास्त्री नाइट डनलप, और जौन बी० वौट्सनने। इन दोनोंका प्रबल मत है कि 'अधिकांश

मानव-व्यवहार विशेषतः सयानोंका व्यवहार अधिकतर सीखा हुआ ही होता है और इसीलिये वह जन्मजात या सहज (इन्नेट) नहीं होता।' वौट्सनने अनेक बच्चोंका अध्ययन करके प्रमाणित किया है कि 'बहुतसे बच्चोंको दाएँ या बाएँ हाथसे लिखनेका या अँधेरा देखकर डरनेका अभ्यास भी दूसरोंको वैसा करते देखकर अर्थात् अनुभवसे ही पड़ता है, यहाँतक कि घुटनों चलना, खड़े होना, सीधे चलना आदि अन्य अनेक ऐसी क्रियाएँ भी अंशतः सीखी हुई ही होती हैं।' भेड़ियोंकी माँदोंसे जो मनुष्यके बच्चे पाए गए वे चारों हाथ-पैरोंपर चलते थे। यही इस बातका प्रमाण है कि केवल पैरोंपर चलना मनुष्यकी मूलवृत्ति नहीं है, सीखी हुई क्रिया है।

मूलवृत्ति शब्दका व्यापक प्रयोग देखकर मानस-शास्त्रियोंको यह अनुभव होने लगा कि 'मूलवृत्ति शब्द दो विभिन्न प्रकारकी चेष्टाओंके लिये प्रयुक्त किया जा रहा है। कभी तो उसका प्रयोग अँगूठा चूसना, लड़ना या अँधेरे स्थानोंसे डरना आदि व्यवहारोंके लिये किया जाता है और कभी काम, भूख या संग्रहवृत्ति आदि उन उद्वेगों (इम्पल्सेज़) या उत्प्रेरणाओं (अर्जेज़) के लिये व्यवहृत होता है जो आगे चलकर व्यवहारका रूप धारण कर लेते हैं।' रौबर्ट एस्० वुडवर्थने व्यवहार (बिहेवियर) या क्रिया (ऐक्टिविटी) के लिये यान्त्रिकता (मिकैनिज़्म) शब्दका प्रयोग करते हुए कहा है कि 'किसी क्रिया या व्यवहारको गतिशील बनानेके लिये भी उसी प्रकार किसी उद्दीपन

(स्टिमुली) की आवश्यकता होती है जैसे यन्त्रको चलानेके लिये।' अतः जो उत्प्रेरणा (अर्ज) या उद्वेग (इम्पल्स) हमें कोई कार्य करनेके लिये उकसाता है उसका नाम उसने रक्खा 'विस्फूर्ति' (ड्राइव), जो यन्त्र चलानेवाली शक्तिके समान ही काम करती है। इन दोनोंमें कोई विशेष भेद इसलिये नहीं है कि यन्त्र भी जब एक बार चल पड़ता है तब वह स्वयं अपनी 'विस्फूर्ति' या झोंक उत्पन्न कर लेता है अर्थात् अपनी ही उत्पन्न की हुई शक्तिसे वह निरन्तर चलता रहता है। यदि किसी बच्चेको सङ्गीत सीखनेकी प्रेरणा दी जाय तो यदि उसमें सङ्गीतात्मकता अर्थात् सङ्गीतके प्रति रुचि होगी तो वह स्वयं अपने ही गायनसे उत्पन्न होनेवाले उत्साहके कारण सङ्गीत सीखता चला जायगा। वुडवर्थका मत है कि 'प्रत्येक अभ्यासमें अपना निजी क्रियासत्त्व (मोटिवेटिङ्ग पौवर) होता है जो स्वयं अपनी आवृत्ति करने या दुहराते रहनेके लिये विस्फूर्ति उत्पन्न करता रहता है अर्थात् जब हमें किसी बातका अभ्यास पड़ जाता है तब उस अभ्यासमें स्वतः ऐसी शक्ति होती है कि वह हमें उस अभ्यासके कामको स्वतः करनेके लिये उकसाता रहता है। अतः किसी भी व्यक्तिमें ज्यों-ज्यों नये अभ्यास पड़ते जाते हैं त्यों-त्यों यह विस्फूर्त्ति (ड्राइव) भी बदलती चलती है। इसी कारण वह व्यक्ति सदा नये-नये ढंगोंसे व्यवहार करता चलता है।' इसी आधारपर वुडवर्थने मैकडुगल आदिके इस कथनका विरोध किया कि 'मनुष्यका सम्पूर्ण क्रियासत्त्व या

काम करनेकी प्रेरणा देनेवाली शक्ति (मोटिवेटिंग पावर) कुछ गिनी-चुनी मूलवृत्तियोंसे उत्पन्न होती है।' अतः बर्नार्ड, डनलप, वौट्सन और वुडवर्थने मानसशास्त्रसे यह मूलवृत्तिका सिद्धान्त ही धकेलकर बाहर निकाल दिया। नरविज्ञान-शास्त्रियों (ऐन्थ्रौपौलौजिस्ट्स) ने तो इस सिद्धान्तको समाधि ही दे दी और सिद्ध कर दिया कि 'मनुष्यका जीवन और पोषण जिस संस्कृतिमें होता है उसीके अनुसार उसकी उत्प्रेरणाएँ (अर्जेज़) और व्यवहार बन जाते हैं और इसीलिये विभिन्न संस्कृतियोंमें मनुष्यकी उत्प्रेरणाएँ और व्यवहार पूर्णतः भिन्न होते हैं।'

नर-विज्ञान-शास्त्रियोंने अपने प्रयोगोंसे जो विचित्र परिणाम निकाले हैं उनका परिचय भी समाज-शास्त्रके अध्येताओंके लिये आवश्यक है। कहा जाता है कि अपने बच्चोंसे लोगोंका सहज प्रेम होता है किन्तु विलियम एच्० आर० रिवर्सने 'मरे' द्वीपके निवासियोंका अध्ययन करके देखा है कि वहाँके माता-पिता अपने बच्चोंके प्रति उदासीन रहते हैं। वहाँ कोई भी किसी बच्चेको गोद ले लेता है और बच्चोंको यही नहीं ज्ञात हो पाता कि उनके वास्तविक माता-पिता कौन हैं। इतना ही नहीं, यदि किसी परिवारमें एक ही लिङ्गके बहुतसे बच्चे हो जाते हैं तो वे उन बच्चोंको मार भी डालते हैं अर्थात् अधिक संख्यावाले लड़कों या लड़कियोंको समाप्त कर देते हैं। राजस्थानमें भी बहुत दिनोंतक यह प्रथा रही कि 'घरमें यदि कन्या जन्म लेती थी तो लोग

उसे मार डालते थे क्योंकि वे लोग अपनी कन्या किसी दूसरेके यहाँ ब्याहना अपमानजनक समझते थे। हमारे यहाँ भी कुछ वर्गोंमें लोग दान-दहेजकी कुप्रथाके कारण कन्याका जन्म अभिशाप समझते हैं और उसके लिये जो प्रमाण देते हैं वह हमारा संस्कार बन गया है—

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्॥

[बालिकाका जन्म होना सचमुच बड़ी भारी चिन्ताकी बात है, क्योंकि सबसे बड़ी झञ्झट तो यह है कि वह दी किसे जाय? फिर यह चिन्ता बनी रहती है कि यदि किसीको दे भी दी जाय तो वहाँ जाकर सुख पावेगी या नहीं? सच्ची बात तो यह है कि कन्याका पिता होना ही सबसे बड़ा कष्ट है।] राल्फ़ लिंटनने मैडागास्करकी एक जातिका विवरण दिया है कि 'यदि वहाँ कोई परित्यक्ता स्त्री पुनर्विवाह करे तो उसका पहला पति इस नये विवाहसे उत्पन्न प्रथम तीन सन्तान पानेका अधिकारी हो जाता है और उन्हें अपनी ही मानता है।' कुमारी मार्गरेट मीडने अनुभव किया कि 'न्यू गायनाकी 'मानुस्' जातिमें माताओंके बदले पिता ही बच्चोंकी देखभाल और लालन-पालन करते हैं और सम्भवतः इसी कारण वहाँके लड़के अधिक चावसे गुड़िया लेते थे, लड़कियाँ नहीं।' कुछ लोगोंने कलहप्रियता (पग्नैसिटी) को भी एक मूलवृत्ति मान लिया है किन्तु फ्रान्त्स बोआसने प्रशान्त

महासागरके कनाडाके पासके द्वीपोंमें देखा कि 'क्वाकिउत्ल द्वीपके 'इंडियन' लोग अपने आपसके झगड़े मारपीट या लाठी-डण्डेके बदले 'पोतलाच' (भोज) करके सुलझा लेते हैं। उस भोजमें दोनों दल अपने पासकी सब वस्तुएँ दे डालते हैं। उनमेंसे जो अधिक देता है वही जीत जाता है।' एलेग्ज़ान्डर गोल्डेन्न-वीज़ेरने अनुभव किया कि 'कुछ ऐस्किमो जातियोंमें आपसी झगड़ोंका निपटारा सङ्गीत-प्रतियोगिता-द्वारा किया जाता है। उनमें जो बहुमतसे श्रेष्ठतर गायक सिद्ध होता है वही विजयी घोषित कर दिया जाता है।'

मानस-शास्त्रियोंने मूलवृत्तिकी सूचीमें संग्रहवृत्ति (एक्वि-ज़िटिवनेस्) को भी सम्मिलित किया है किन्तु नर-विज्ञान-शास्त्रियोंने अपने प्रयोगोंसे बताया है कि 'बहुत-सी आदिम जातियोंमें सम्पत्तिके सम्बन्धमें भी बड़ी विचित्र धारणाएँ हैं। एक जातिमें तो पहाड़की चट्टान और पानीके सोतेतकको लोगोंने व्यक्तिगत सम्पत्ति बना रक्खा है। दूसरी जातिमें केवल आभूषण और शस्त्र (औज़ार या इन्स्ट्रूमेंट) तो व्यक्तिगत सम्पत्ति माने जाते हैं किन्तु अन्य शेष वस्तुएँ सबकी मानी जाती हैं।' इसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियोंमें प्रतिद्वन्द्विता (कौम्पिटिटिवनेस्) की भावना भी भिन्न-भिन्न है। रथ बेनेडिक्टने अनुभव किया कि 'जूनी-प्रदेशके 'इंडियन' लोग सम्मान या शक्ति प्राप्त करनेकी कामना करनेवालेको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं; जो निरन्तर कई बार घुड़दौड़में जीत जाय

उसे प्रतियोगितामें भाग नहीं लेने देते और व्यक्तिगत प्रयास (इनिशिएटिव) को भी लोग प्रोत्साहन नहीं देते।' सामाजिक मानस-शास्त्री ओटो क्लिनेबर्गको कई 'अमरीकी इण्डियन' जातियोंकी ठीक-ठीक बुद्धि-परीक्षा लेना ही असम्भव हो गया क्योंकि उन लोगोंमें प्रतियोगिताकी इतनी भी भावना नहीं थी कि वे दूसरोंसे अधिक अङ्क प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हों। इस प्रकार देखा जाता है कि अनेक तथाकथित मूलवृत्तियाँ (इन्स्टिन्क्ट्स) विभिन्न मानव-समूहोंमें अत्यन्त भिन्न हैं और वे प्रत्येक संस्कृतिकी अपनी रीति-नीतियोंपर ही अवलम्बित हैं।

मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट)

लोगोंने मूलवृत्तिकी यह परिभाषा बताई है कि 'मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) वह जन्मजात (इन्नेट) और अन्य व्यवहारोंकी अपेक्षा अधिक अपरिवर्त्तनीय (रिलेटिवली अनचेञ्जेबिल) व्यवहार है जो किसी एक जीवजाति (स्पीसीज़) में समान रूपसे व्याप्त हो, जैसे चिड़ियोंमें घोंसला बनानेकी और मकड़ियोंमें जाला बुननेकी वृत्तियाँ वास्तविक मूलवृत्तियाँ हैं।' किन्तु कोयल जैसी बहुत-सी चिड़ियाँ घोंसला नहीं बनातीं और यदि यह मान भी लें कि अधिकांश चिड़ियाँ घोंसला बनाती हैं और यह उनकी मूलवृत्ति है तो कमसे कम मनुष्यके लिये और मानव-व्यवहारके लिये यह बात नहीं मानी जा सकती क्योंकि मानव-व्यवहारके बहुतसे रूप इतने भिन्न और परिवर्त्तनीय हैं कि मानसशास्त्रियोंने अब मनुष्योंके सामाजिक आचरणपर

विचार करते हुए उनके सम्बन्धमें मूलवृत्तिकी बात ही छोड़ दी है। इस सम्बन्धमें गिन्सवर्गने निम्नाङ्कित विचार किया है—

"यद्यपि आजकलके अधिकांश मानस-शास्त्रियोंने मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) का अस्तित्व ही अमान्य कर दिया है किन्तु जो उसे मानते भी हैं उनका भी मत है कि 'ये मूलवृत्तियाँ अपरिवर्त्तनीय नहीं हैं अर्थात् ये सदा एक-सी नहीं रहतीं, इनमें परिवर्त्तन भी हो सकता है और यह भी आवश्यक नहीं कि एक-सी स्थितिमें ये सदा एक निश्चित ही व्यवहार करें। यद्यपि जीव-विज्ञान (बायलौजी) की दृष्टिसे तो इनका बहुत महत्त्व नहीं है फिर भी आजकलके मानस-शास्त्री जीवविज्ञानकी दृष्टिसे ही मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'किन्हीं विशेष उद्दीपक परिस्थितियों (स्टिमुली) के आ पड़नेपर मनुष्य उन परिस्थितियोंका सामना करनेके लिये जो क्रियाएँ पिछली अनेक पीढ़ियोंसे करता चला आया है और जो जीवन-सङ्घर्षमें सहायक होनेके कारण मनुष्योंकी अलग-अलग जातियोंकी परम्परामें एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें काम आते-आते सध गई हैं उन क्रियाओंको ही मूलवृत्तियाँ (इन्स्टिन्क्ट्स) कहते हैं।' इस आधारपर लोगोंका यह विचार हो चला है कि 'पहले तो एक सी परिस्थिति आ पड़नेपर सब जीवतत्त्व (प्रोटोप्लाज़्म) उसका सामना करनेके लिये प्रत्येक बार नई-नई क्रियाएँ करते थे किन्तु बार-बार ऐसी एक-सी परिस्थिति आ पड़नेपर जो व्यवहार सबसे अधिक

सुविधाजनक और लाभदायक प्रतीत हुआ वही बार-बार दुहराए जानेके कारण किसी जाति या समाजके व्यवहारमें स्थिर होकर सध गया और फिर प्रकृतिने भी उस व्यवहारके लिये उस जीव-जातिके सब शरीरोंमें परम्परासे ही व्यवस्था कर दी। अतः मूलवृत्यात्मक क्रिया (इन्स्टिन्क्टिव ऐक्टिविटी) वास्तवमें कुछ ऐसा गिना चुना क्रिया-समूह है १. जो किसी जातिके लिये बहुत पहले-से लाभदायक सिद्ध होता चला आया है ; २. जो जन्मके साथ ही निश्चित हो गया रहता है; और ३. जिसका ज्ञान या परिचय उस जीवको पहलेसे नहीं हुआ रहता है अर्थात् जिसका व्यवहार वह बिना देखे या बिना सीखे ही करता चलता है।' मूलवृत्तिके सम्बन्धमें इतनी बात तो प्रायः सभी मानस-शास्त्री मानते हैं किन्तु विवाद केवल इस विषयमें है कि इन मूलवृत्यात्मक क्रियाओं (इन्स्टिन्क्टिव ऐक्टिविटीज़) में कुछ मानस प्रक्रियाएँ (साइकिकल प्रोसेसेज़) भी काम करती हैं या नहीं अर्थात् हमारा मन भी कुछ हाथ बँटाता है या नहीं।

मूलवृत्ति, स्वतःक्रिया और सज्ञान क्रिया

मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट), स्वतःक्रिया (रिफ़्लैक्स ऐक्शन्) और सज्ञान क्रिया (इन्टैलिजैन्ट ऐक्शन) तीनों ही परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न हैं। हरबर्ट स्पेन्सरके अनुवर्ती लेखकोंने मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) को 'जटिल स्वतःक्रिया' (कम्पाउण्ड रिफ्लैक्स ऐक्शन)

अर्थात् अनेक स्वतःक्रियाओंका घुला-मिला रूप बताया है। किन्तु लौयड मौर्गेनने इससे असहमत होकर कहा है कि 'शरीरके किसी एक विशेष भागपर कोई बाहरी प्रभाव पड़ जानेपर शरीरका केवल वही भाग या उस भागके क्षुब्ध हो जानेके कारण कोई दूसरा एक अङ्ग या भाग झट अपने आप उसके बचावके लिये आ पहुँचता या क्रिया करता है वह क्रिया 'स्वतःक्रिया' (रिफ्लैक्स ऐक्शन्स) कहलाती है। उसमें पूरे शरीरकी क्रिया नहीं होती वरन् केवल एक अङ्ग या भागकी होती है और यह क्रिया बिना कुछ मनमें सोचे-विचारे अपने आप होती है जैसे सहसा चोरबत्ती चमक जानेसे केवल आँखें ही अपने-आप मुँद जाती हैं, शेष शरीरपर उसका न तो प्रभाव पड़ता न शेष शरीर विचलित होकर कोई प्रतिक्रिया ही करता। किन्तु मूलवृत्यात्मक व्यवहार (इन्स्टिन्क्टिव बिहेवियर) में तो पूरा जीव-शरीर ही प्रतिक्रिया करता है, जैसे साँपको देखते ही मनुष्य सशरीर भाग खड़ा होता या डरकर चिल्ला उठता है। जीवकी यह क्रिया अपने आप या उस प्रकार अनजाने नहीं होती जैसी स्वतःक्रियामें होती है वरन् उस जीवकी कोई अत्यन्त उत्कंट इच्छा या आवश्यकता या उसके मनकी कोई ऐसी विशेष मनःस्थिति (मूड) या भावका तनाव (टेन्शन) किसी प्रकारकी तृप्ति चाहता है वही उस क्रियाको करनेकी प्रेरणा देता है, और वह इच्छा, आवश्यकता, मनःस्थिति या भाव

तबतक बना रहता है जबतक वह क्रिया पूरी न हो जाय। अतः जब कोई मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) सक्रिय होती है तब वह उद्वेगात्मक (इम्पल्सिव) होती है अर्थात् वह बड़े वेगसे कुछ कार्य करनेकी प्रेरणा देती है और उसमें ज्ञान या प्रतीति (कौग्निटिव) तथा क्रिया (एफ़ैक्टिव) दोनोंकी चेतनाएँ विद्यमान रहती हैं। यह बहुत सम्भव है कि क्रियाकी दृष्टिसे मूलवृत्यात्मक व्यवहार (इन्स्टिन्क्टिव विहेवियर) में बहुत-सी स्वतःक्रियाएँ दिखाई पड़ जायँ किन्तु स्वतःक्रिया (रिफ़्लैक्स ऐक्शन) और मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि मूलवृत्तिमें मानसिक क्रियाएँ भी होती हैं किन्तु स्वतःक्रियामें मानसिक चेष्टा या मानसिक प्रेरणा तनिक भी नहीं होती।'

मूलवृत्ति और सज्ञान क्रिया

ऊपर बताया गया है कि मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) में कुछ मानसिक क्रिया भी होती है अर्थात् मूलवृत्तिकी क्रिया सज्ञान अवस्थामें या समझकर की जाती है। तो क्या इस समझका यह अर्थ है कि मूलवृत्यात्मक क्रिया (इन्स्टिक्टिव ऐक्टिविटी) के समय जीव सोच-विचारकर या बुद्धिपूर्वक कार्य करता है? देखा जाय तो उच्च प्रकारके जीवों (मनुष्य आदि) में शुद्ध मूलवृत्तिकी पहचान बड़ी कठिनाईसे होती है और पहचान होनेपर भी यह कहना कठिन होता है कि उन मूलवृत्यात्मक क्रियाओं (इन्स्टिन्क्टिव ऐक्शन्स) मेंसे कितनी उसने अपने

अनुभवसे सीखी हैं और कितनी उसे परम्परासे प्राप्त हुई हैं। छोटे जानवर भी जो विचित्र प्रकारके निश्चित व्यवहार करते दिखाई पड़ते हैं वे भी बहुत-कुछ अनुभवसे सीखकर ही व्यवहार करते हैं। अतः उनमें भी जो मूलवृत्यात्मक क्रियाएँ (इन्स्टिन्क्टिव ऐक्टिविटीज़) होती हैं उनमें कुछ तो जन्मजात होती हैं और कुछ अनुभवसे सीखी हुई। ये दोनों प्रकारकी क्रियाएँ भी साथ-साथ चलती रहती हैं अतः उन सबको मूलवृत्यात्मक समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए; क्योंकि मूलवृत्यात्मक व्यवहार तो जन्मके साथ ही पूर्ण होकर मिलता है, अनुभवसे सीखी हुई क्रियाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु 'सज्ञान क्रिया' (इन्टैलिजैण्ट ऐक्शन) में क्रिया करनेके पूर्व ही उद्देश्यका ज्ञान हो जाता है। छोटे कीड़ोंमें पाए जानेवाली मूलवृत्यात्मक क्रियाएँ बहुत उलझी हुई होती हैं अतः उनमें यह सम्भावना ही कम होती है कि उन्हें उद्देश्यका ज्ञान पहलेसे हो जाय क्योंकि उनके जीवनकी कुल क्रियाएँ ही गिनी-चुनी थोड़ी-सी होती हैं। उनकी बहुत-सी मूलवृत्यात्मक क्रियाएँ ऐसी जटिल होती हैं कि उनमें अनेक अनमिल तथा परस्परविरोधी क्रियाएँ भी भरी रहती हैं। फिर भी वे उलट-पलटकर, अपना डौल बैठाकर उन्हें ठीक-ठाक करके साध लेती हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनमें जो उद्देश्य दिखाई भी पड़ता है वह वास्तविक नहीं है। मनुष्य बहुत सी क्रियाओंके समूहका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता, क्योंकि

यदि किसी समर्थ जीवके सम्मुख कोई ऐसी परिस्थिति आ जाय जिसके लिये मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) ने कोई व्यवस्था न की हो तो वह कोरा बुद्धू होकर मुँह ताकता नहीं रह जायगा, वह कुछ न कुछ तो क्रिया करेगा ही।

मूलवृत्ति यद्यपि शरीरकी बनावटके साथ-साथ जीवको मिलती है किन्तु वह पूर्णतः यन्त्र-गतिक (मिकैनिकल) नहीं होती और यद्यपि वह किसी उद्देश्यसे नियन्त्रित भी नहीं होती किन्तु उससे पूर्णतः मुक्त भी नहीं होती अर्थात् मूल-वृत्त्यात्मक क्रिया भी कुछ सोद्देश्य होती ही है। हौबहाउसका मत है कि 'बुद्धि या समझ भी मूलवृत्तिके घेरेमें ही बढ़ती है और ज्यों-ज्यों वह बढ़ती चलती है त्यों-त्यों मूलवृत्तिकी क्रियाओंका बँधा हुआ रूप खुल जाता है अर्थात् फिर क्रियाएँ बँधे-बँधाए एक-से रूपमें होनेके बदले अनेक नये-नये रूपोंमें होने लगती हैं। शुद्ध मूलवृत्तिके कारण जो कार्य होता है वह एक तो बँधी-बँधाई मानसिक वृत्तिके द्वारा कुछ परिणाम प्राप्त करनेके लिये होता है और दूसरे वह सब कार्य स्वतःक्रियात्मक (रिफ़्लैक्स या सेन्सरी मोटर) होता है अर्थात् उस क्रियामें एक निश्चित क्रम होता है और प्रत्येक क्रममें निश्चित प्रकारकी ऐसी चेष्टाएँ होती हैं जिनमें किसी प्रकारका कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होता। किन्तु जैसे-जैसे बुद्धि बढ़ती चलती है वैसे-वैसे उस कार्यका उद्देश्य ढीला होता और बदलता चलता है और केवल मुख्य उद्देश्य ही प्रधान रह जाता है क्योंकि बुद्धिकी विशेषता

ही यह है कि वह अपने सम्मुख उपस्थित उद्देश्योंको तत्काल समझ लेती है और यदि वह देखती है कि उन उद्देश्योंकी प्राप्तिमें साधारण साधन असफल हो गए हैं तो वह दूसरे साधन काममें लाने लगती है। किन्तु मूलवृत्तिकी क्रियामें यह नहीं हो सकता। उसमें तो प्रत्येक कार्यके क्रम और उनके अन्तर्गत आनेवाली सब चेष्टाएँ बँधी रहती हैं। अतः उनमें यदि तनिक-सा भी हेरफेर हुआ तो उनका सारा ढाँचा ही लड़खड़ाकर ढह जाता है। बुद्धिका क्षेत्र ज्यों-ज्यों बढ़ता चलता है त्यों-त्यों उसमें किसी भी कार्यका परिणाम पहलेसे समझ लेनेकी शक्ति बढ़ जाती है और वह धीरे-धीरे आगेके परिणामोंको क्रमशः इस प्रकार समझ लेती है कि अन्तमें वह किसी भी आचरणका पूरा परिणाम पहलेसे जान लेती है। यह अवस्था आ जानेपर चाहे किसी आचरणके परिणाम कुल-परम्पराके द्वारा ही क्यों न निश्चित हुए हों किन्तु उन परिणामोंको सिद्ध करनेका ढङ्ग प्रत्येक परिस्थितिके साथ बदलता चलता है और यह ढङ्ग प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभवके साथ निश्चित करता चलता है। किन्तु मूलवृत्यात्मक क्रियामें एकके पश्चात् दूसरी जो क्रियाएँ क्रमशः आती जायँगी वे सब उस मूल अशान्ति या विक्षोभ या आवश्यकता या उत्कट इच्छा या मनोभावना (स्टिमुलस) के आधारपर ही होंगी जो अपनी तृप्तिके लिये व्याकुल होती है। इस तृप्तिके लिये जिस क्रमसे क्रियाएँ होती हैं वे सब परम्परागत रूपमें बँधी चलती हैं और यदि उनमें कोई अन्तर भी होता भी

है तो अत्यन्त अस्पष्ट और सूक्ष्म होता है। बुद्धिके विस्तारके साथ-साथ ये सब क्रियाएँ बदलती, शिथिल होती और प्रत्येक अवसर तथा परिस्थितिके अनुसार अपनेको ढालती चलती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि निर्दिष्ट उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये नये-नये ऐसे साधन काममें आने लगते हैं जो मूलवृत्तिकी क्रियाके लिये व्यवहृत किए जानेवाले बँधे-बँधाए और यन्त्रगतिक व्यवहारसे पूर्णतः भिन्न होते हैं।

इस विवरणसे यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक मूलवृत्तिमें तीन पक्ष होते हैं—१. प्रतीत्यात्मक (कौग्निटिव),२. निर्णयात्मक (कोनेटिव) और ३. क्रियात्मक (एफ़ैक्टिव); अर्थात् किसी भी उद्दीपक परिस्थिति (स्टिमुलस) का पहले अनुभव या गोचरत्व (पर्सेप्शन) होता है। उसके पश्चात् उसके प्रति एक भावना उत्पन्न होती है जो इच्छा, लालसा, रुचि आदि बहुतसे रूपोंमें प्रकट हो सकती है। उसके पश्चात् कुछ क्रियाएँ या तत्संयुक्त चञ्चल भावनाएँ (सञ्चारी भाव) अर्थात् उस क्रियाको पूर्ण करनेसे उत्पन्न होनेवाली सन्तोषकी भावना या उस क्रियाके अपूर्ण होनेसे असन्तोषकी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। हौबहाउसका मत है कि 'मूलवृत्तिकी क्रियामें जो थोड़ी-बहुत शिथिलता या परिस्थितिके अनुसार ढङ्ग बदलनेकी क्रिया होती है वह इस रुचिके कारण ही होती है। शुद्ध मूलवृत्तियोंमें इस रुचिके कारण जो क्रियाओंकी धारा चलती है वह शुद्ध स्वतःक्रियाके संभवन ही होती

है। धीरे-धीरे उसमें थोड़े-बहुत हेरफेर और तोड़-जोड़ होकर परिस्थितिके अनुकूल बनने लगते हैं। प्रारम्भमें तो ये क्रियाएँ केवल स्वतःक्रियाएँ (सेन्सरीमोटर) ही होती हैं जिसमें समझका या सज्ञानताका एक बहुत धुँधला-सा पुट अर्थात् निर्णयका एक अनगढ़ रूप दिखाई पड़ता है जो नई-नई परिस्थितियोंके अनुसार अपनेको ढालता चलता है। अन्तमें वह स्थिति आ जाती है कि हम अपने अनुभवसे समझ-बूझकर विभिन्न प्रकारकी परिस्थितियोंमें उठ खड़ी होनेवाली कठिनाइयाँ ठीक ढङ्गसे दूर कर लेते हैं अर्थात् अपनी बुद्धिका प्रयोग करके सुलझा लेते हैं और यही समझकर की हुई क्रिया ही सज्ञान क्रिया (इन्टैलिजैन्ट ऐक्शन) कहलाती है।'

मूलवृत्तिके सिद्धान्तपर सबसे अधिक विस्तारसे डॉक्टर मैकडुगलने ही विचार किया है। उनका मत है कि 'मनके तीन अङ्ग होते हैं—१. प्रतीतिशील या अनुभव करनेवाला (कौग्निटिव), २. निर्णयशील (कोनेटिव) और ३. क्रियाशील (एफ़ैक्टिव)। मनके ये तीनों अङ्ग हमारी स्नायु-प्रणालीके अलग-अलग स्थानोंसे सम्बद्ध हैं अर्थात् प्रतीतिशील (कौग्निटिव) पक्ष तो सम्वेदन (सेन्सेशन) को स्नायुकेन्द्रतक ले जानेवाले (ऐफ़रैन्ट) हमारे स्नायु-भागसे, निर्णयशील (कोनेटिव) अङ्ग हमारे प्रतिवाहक या प्रतिक्रिया करनेवाले (मोटर) स्नायु-भागसे और क्रियाशील हमारे केन्द्रीय (सेन्ट्रल) स्नायु-भागसे सम्बद्ध हैं। हमारी क्रियाशील या

भावनावृत्ति, एक या अधिक प्रतीतिशील वृत्तियाँ (कौग्निटिव डिस्पोज़िशन्स) तथा निर्णय करनेवाली वृत्ति (कोनेटिव डिस्पोज़िशन), इन तीनोंसे हमारी मूलवृत्ति, जन्मसे ही अर्थात् सहज रूपसे सम्बद्ध है। अतः कोई भी मूलवृत्त्यात्मक क्रिया (इन्स्टिन्क्टिव ऐक्टिविटी) तब पूरी होती है जब उसमें १. किसी वस्तु या विषयकी प्रतीति होती है अर्थात् इन्द्रियोंसे इसकी जानकारी होती है; २. उसकी प्रतीति होनेपर मनमें भावात्मक विक्षोभ या हलचल (इमोशनल ऐक्साइटमेन्ट) होती है और ३. उसकी प्रतिक्रियामें एक निश्चित सधे हुए ढङ्गसे कुछ कार्य करनेकी झोंक आती है। अतः (क) प्रत्येक मूलवृत्तिके साथ एक विशेष प्रकारका भावावेगात्मक विक्षोभ (इमोशनल ऐक्साइटमेंट) होता है, (ख) प्रत्येक मुख्य मूलवृत्ति (प्रिंसिपल इन्स्टिंक्ट) के चेतन होनेपर उसके साथ जो विशिष्ट भावावेग उत्पन्न होता है उसे हम मूल भावावेग (प्राइमरी इमोशन) कह सकते हैं, (ग) हमारी सम्वेदन-वाहक (ऐफ़ेरैन्ट) और प्रतिवाहक (मोटर) क्रियाएँ और उनसे सम्बद्ध हमारी प्रकृतिके प्रतीतिशील और निर्णयशील पक्ष तो बहुत-कुछ सुधारे और बदले जा सकते हैं किन्तु क्रियाशील केन्द्रीय पक्ष अचल, स्थायी, परम्परागत और अपरिवर्तित रहता है और इसीलिये हमारा भावावेगात्मक पक्ष (इमोशनल साइड) भी अचल, स्थायी, परम्परागत और अपरिवर्तित रहता है। यही कारण है कि मनुष्यमें प्रतिक्रियात्मक

प्रक्रियाओं और मूलवृत्त्यात्मक क्रियाओंके साथ जो क्रियाएँ होती हैं वे तो अनुभवके साथ-साथ बहुत बदलकर जटिल हो गईं किन्तु सब परिस्थितियोंमें जो भावावेग और तत्सम्बद्ध स्नायविक क्रियाएँ होती हैं वे सब लोगोंकी एक-सी ही बनी हुई हैं।'

डौक्टर मैकडुगलने बताया है कि 'मुख्य मूलवृत्तियाँ सात हैं और इनमेंसे प्रत्येकके साथ एक-एक प्रमुख (प्राइमरी) तथा स्पष्ट भावावेग (इमोशन) भी लगा रहता है :— १. पलायन (फ़्लाइट) की मूलवृत्ति और भयका भावावेग, २. विरति (रिपल्शन) की मूलवृत्ति और चिढ़ (डिसगस्ट) का भावावेग, ३. कुतूहल (क्यूरियौसिटी) की मूलवृत्ति और आश्चर्यका भावावेग, ४. कलहप्रियता (पग्नैसिटी) की मूलवृत्ति और क्रोधका भावावेग, ५. आत्मतुच्छता (सैल्फ़-एबेसमेन्ट) की मूलवृत्ति और दैन्य (सब्जैक्शन) का भावावेग, ६. आत्म-महत्ता (सैल्फ़-ऐसर्शन या सैल्फ़-डिस्प्ले) की मूलवृत्ति और उल्लास या फूलकर कुप्पा होने (इलेशन) का भावावेग, तथा ७. जनकत्व (पेरेन्टल) अर्थात् माता या पिता बननेकी मूलवृत्ति और वात्सल्य (टेन्डरनैस) का भावावेग। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी मूलवृत्तियाँ हैं जो भावावेगोंकी उत्पत्तिमें तो बहुत कम सहायक होती हैं किन्तु सामाजिक जीवनके निर्वाह लिये उनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्वेग (इम्पल्सेज़) भरे रहते हैं। इन मूल-वृत्तियोंके अन्तर्गत प्रजनन (रीप्रोडक्शन), संघ-भाव (ग्रिगेरियसनैस्), संग्रह-भाव

(ऐक्विज़िटिवनैस्), रचनाशीलता (कंस्ट्रक्टिवनैस्) आदि तथा घुटनों या खड़े होकर चलनेकी प्रेरणा देनेवाली आदि कुछ गौण मूलवृत्तियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य तथा निर्विशेष सहज प्रवृत्तियाँ (नौन-स्पैसिफ़िक् इन्नेट टैन्डैन्सीज़) भी होती हैं जैसे सहभावन (सिम्पैथी) अर्थात् किसी दूसरेके भावावेग या भावनाको देखते ही या ध्यान करते ही उसी प्रकारकी भावना या भावावेग अनुभव करना, विभावनशीलता (सजेस्टिबिलिटी) अर्थात् दूसरोंके भावों या विचारोंको अनजाने ही अपना लेना, अनुवर्त्तन (इमिटेशन), खेल और अभ्यास डालनेकी प्रवृत्ति आदि।'

मैकडुगल मानता है कि 'सम्पूर्ण मानवीय चेष्टाओंका आधार मूलवृत्ति ही है। अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्तिकी चेष्टामें भी जितना बुद्धिका योग होता है वह सब केवल उन उद्वेगोंको पूर्ण करनेमें सहायक या साधन-मात्र होता है जिन्हें मूलवृत्ति प्रस्तुत करती है। हमारे अभ्यास भी सब मूलवृत्तिके ही सेवक होकर काम करते हैं; अर्थात् मूलवृत्तियाँ ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे हमारी सब क्रियाओंका सञ्चालन करती हैं। प्रत्येक छोटेसे छोटा विचार भी किसी मूलवृत्तिके साथ बँधे हुए अभ्याससे या मूलवृत्तिकी निर्णयात्मिका (कोनेटिव) या उद्वेगात्मिका (इम्पल्सिव) शक्तिके कारण ही अपने परिणाम-तक पहुँचता है और इसी मूलवृत्तिके द्वारा ही शरीरकी प्रत्येक क्रिया भी प्रेरित और पोषित होती है। यदि प्रबल

उद्वेगोंसे भरे हुए इन मूलवृत्यात्मक भावोंको निकाल लिया जाय तो हमारा शरीर तत्काल कमानी-रहित घड़ी या अग्नि-रहित अञ्जनके समान निष्क्रिय हो जाय।'

ऊपर बताया जा चुका है कि डा० मैकडुगलके इस सिद्धान्तका बड़ा विरोध हुआ और कहा गया कि—

१. सामाजिक मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे मनको प्रतीतिशील (कौग्निटिव), निर्णयशील (कोनेटिव) और क्रियाशील (एफ़ैक्टिव) वृत्तियोंमें बाँट देना ठीक नहीं है क्योंकि ये तीनों वृत्तियाँ अलग-अलग अङ्ग न होकर किसी एक क्रियाके विभिन्न पक्ष-मात्र ही तो हैं। भावना (फ़ीलिंग) और निर्णय परस्पर सम्बद्ध होते हैं क्योंकि जहाँ दुःखकी भावना होगी वहाँ उसे दूर करनेकी वृत्ति भी साथ लगी रहेगी और जहाँ सुखकी भावना होगी वहाँ उस सुखको बनाए रखनेकी वृत्ति भी साथ लगी रहेगी।

२. मैकडुगलका यह विचार निराधार है कि मनके तीन पक्ष (कौग्निटिव या प्रतीतिशील, कोनेटिव या निर्णयशील और एफ़ेक्टिव या क्रियाशील) अलग-अलग बनावटवाले अङ्ग (स्ट्रक्चरल यूनिट) हैं और मूलवृत्ति ही इनको अर्थात् प्रतीति-भाव (कौग्निटिव डिस्पोज़िशन) और निर्णय-युक्त क्रिया-भाव (कोनेटिव-एफ़ेक्टिव डिस्पोज़िशन) को परस्पर जोड़नेवाली कड़ी है। स्टाउटने कहा है कि 'मैकडुगलका यह कहना तभी ठीक होता, यदि यह सिद्ध कर दिया जाता कि प्रत्येक मूलवृत्त्यात्मक क्रिया (इन्स्टिन्क्टिव ऐक्टिविटी) में किसी

वस्तुका सहज रूपसे (इन्नेटिवली) अर्थात् अपने आप वैसा ही निश्चित ज्ञान हो जाता है जैसा अनुभवसे सीखनेपर होता है, जैसे, यदि हम यह मान लें कि गिलहरीका बच्चा अखरोट देखते ही अपनी सहज वृत्तिसे अर्थात् अपने आप ही समझ जाता है कि छिलकेके नीचे अखरोटकी गिरी है और यदि हम मान लें कि प्रत्येक मूलवृत्त्यात्मक क्रियामें इस प्रकारका सहज या जन्मजात ज्ञान (इन्नेट नौलेज) रहता ही है तब अवश्य ही एक विशेष प्रकारकी प्रतीति-भावना (कौग्निटिव डिस्पोज़िशन) को मूलवृत्तिका अङ्ग मानना ठीक होता। किन्तु हममें जानने या समझनेकी यह शक्ति तो इसलिये आ गई है कि उस विषयके प्रति हमारी विशेष रुचि बन गई है जो मनको सब ओरसे हटाकर उस विषयकी ओर जोत देती है। इसके अतिरिक्त मैकडुगलने यह भी नहीं सिद्ध किया कि प्रतीति, निर्णय और क्रिया तीनों अलग-अलग बनावटवाले अङ्ग (स्ट्रक्चरल यूनिट) होते हैं। इससे तो उलटे यह भ्रम होने लगता है कि मूल-वृत्ति मानो इन स्वतन्त्र बनावटवाले अङ्गोंका कुछ उस प्रकारका मेल हो जैसे अवयव (पुरजे) जोड़कर कोई यन्त्र बना दिया जाता है। उसने शरीरको ऐसा माना है मानो हमारा शरीर अलग-अलग भावावेगों (इमोशन्स) से युक्त मूलवृत्तियोंका कोई गट्ठर हो। वास्तवमें यदि मूलवृत्त्यात्मक क्रिया कुछ है भी तो वह सदा पूरे शरीरकी ही क्रिया है अर्थात् शरीर कर्त्ता है और मूलवृत्ति उसकी क्रिया है। इसे यों कहिए कि शरीर है, और-

निज़्म)' अपनेको जैसे व्यक्त करना और व्यवहार करना चाहता है उसी व्यक्त करने या व्यवहार करनेका ढङ्ग ही मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) है। मैकडुगलका यह कहना भी विज्ञान-सम्मत नहीं है कि प्रतीति, निर्णय और क्रिया, ये तीनों हमारी स्नावयिक प्रणाली (नर्वस सिस्टम) के विशेष भागोंसे सम्बद्ध हैं।'

३. मैकडुगलका यह मत भी ठीक नहीं है कि 'प्रत्येक मूलवृत्तिके साथ एक निश्चित भावावेग भी उसके क्रियात्मक रूपमें साथ-साथ नँधा रहता है।' शैण्डका तो यहाँतक कहना है कि '(क) स्वयं कुछ मूलवृत्तियाँ ही भावावेगका अङ्ग बनकर काम करती हैं और किसी भी पूर्वनिश्चित अथवा विशिष्ट भावावेगके बिना भी मूलवृत्ति सक्रिय हो सकती है क्योंकि मैकडुगलने यह नहीं बताया कि घोंसला बनाने या किसी आखेटका पीछा करने और उसे पकड़नेकी क्रियामें कोई एक ही ऐसा निश्चित भावावेग काम करता है जो जन्मसे ही उस क्रियाके साथ नँधा हो। (ख) एक मुख्य भावावेगके साथ अनेक मूलवृत्तियाँ या निर्णायकी वृत्तियाँ (कोनेटिव डिस्पोज़िशन्स) भी हो सकती हैं, जैसे—भयका भावावेग होनेपर अत्यन्त भिन्न प्रकारकी इतनी क्रियाएँ हो सकती हैं—भाग खड़े होना, छिप जाना, मृतक-सा बनकर पड़ रहना, मौन हो जाना, हाथ-पैर न हिलाना, चिल्ला उठना और बचावके लिये कोई प्रबल उपाय करना। (ग) एक ही मूलवृत्ति विभिन्न भावावेगोंकी क्रियाओंके लिये सहायक हो सकती है, जैसे–चिड़ियोंमें उड़नेकी मूलवृत्ति

केवल भयके भावावेगके कारण ही नहीं वरन् क्रोध तथा घूमनेके आनन्दके लिये भी जाग सकती है। अतः[1] गतिशीलताकी मूलवृत्ति ही भय क्रोध, और विरति (चिढ़) तीनोंमें सहायक हो सकती है।'

तो मूलवृत्तिका क्रियात्मक या प्रवृत्ति-पक्ष वास्तवमें स्वतः भावावेग नहीं है वरन् कुछ ऐसी परिस्थितियोंमें वह भावावेग बन जाता है जैसे उद्वेग (इम्पल्स) की उत्पत्तिमें विलम्ब या बाधा होनेपर या इतनी तीव्र उत्तेजना होनेपर कि उसके लिये की हुई क्रिया पर्याप्त न हो। यह भी स्मरणीय है कि यदि किसी मूल; वृत्तिकी निर्णयात्मिका प्रवृत्ति तत्काल सन्तुष्ट हो जाय तो भावावेग ठण्ढे पड़ जाते हैं जैसे सिंहको दहाड़ते आते सुनकर फाटक बन्द करते ही भयका भावावेग नौ-दो-ग्यारह हो जाता है। अतः भावावेगका कार्य यही प्रतीत होता है कि वह प्रवृत्ति (इन्टेरेस्ट) और उद्वेग (इम्पल्स) को बल दे, उद्वेगके कारणको ध्यानमें बनाए रक्खे और उसे तृप्त करनेकी क्रियाको बलवती प्रेरणा दे।' शैण्डका मत है कि 'मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) की अपेक्षा भावावेग (इमोशन) अधिक रूपान्तरणशील (प्लास्टिक) अर्थात् रूप बदल सकनेवाले होते हैं। यह भावावेग उस समय सक्रिय हो जाता है जब मूलवृत्ति सोई पड़ी हो अथवा मूल-वृत्तिकी क्रिया पूर्ण रूपसे तृप्त करनेमें असमर्थ सिद्ध हो जाय।'

४. मैकडुगलने माना है कि 'मूलवृत्तियाँ ही प्रेरणा-शक्ति देकर मनुष्यकी सारी क्रियाओंको गतिशील करती हैं।'

इसपर आपत्ति करते हुए लौयड मौर्गनने कहा है कि 'मूलवृत्तियोंका कोई स्वतन्त्र अलग अस्तित्व नहीं है वरन् मूलवृत्ति तो किसी एक उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक होनेवाले विभिन्न प्रकारके व्यवहारोंकी समष्टिका नाम है; जैसे आत्म-महत्ताकी मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट औफ़् सैल्फ़ ऐसर्शन) अर्थात् अपनेको बड़ा समझनेकी वृत्ति या आत्म-तुच्छता (सैल्फ़ एबेसमेंट) अर्थात् अपनेको तुच्छ समझनेकी मूलवृत्तिके अन्तर्गत समान लक्षणवाले अनेक तथा विभिन्न प्रकारके ऐसे व्यवहार आ जाते हैं जिनका मूलवृत्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार उद्वेगों (इम्पल्सेज़) को भी हम प्रेरणा-शक्ति (फोर्सेज़) नहीं कह सकते क्योंकि ये उद्वेग तो कुछ मूलवृत्यात्मक प्रक्रियाओं (इन्स्टिन्क्टिव प्रोसेसेज़) के सज्ञान (कौन्शस) पक्षसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये उद्वेग अपने आप न उत्पन्न होकर सज्ञान अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। अतः मूलवृत्तिको मुख्य सञ्चालक माननेका इतना ही अर्थ समझा जा सकता है कि जीवनकी सब प्रवृत्तियों (इन्टेरेस्ट) को हम कुछ गिनी-चुनी श्रेणियोंमें बाँध सकते हैं जैसे कुतूहल, आत्म-महत्ता आदि।' किन्तु वुडवर्थ तो इतना भी नहीं मानता। वह कहता है कि 'मनुष्यमें जिस-जिस कामकी समर्थता होती है उसी-उसीके लिये उसमें प्रवृत्ति भी होती है आदि।' इस आधारपर मिन्सबर्गने माना है कि 'किसी परिस्थितिसे जैसा उद्दीपन (स्टिमुलस) मिले उसीके अनुसार लगभग निश्चित प्रतिक्रिया करनेको

मूलवृत्ति कहते हैं। ये मूलवृत्तियाँ इसी अर्थमें मुख्य (प्राइमरी) मानी जाती हैं कि ये परिस्थितिके अनुकूल ही उठती हैं। किन्तु यदि कोई ऐसी परिस्थिति आ जाय जिसका हमारी मुख्य मूलवृत्तिसे कोई लगाव ही न हो उस समय वुडवर्थके मतानुसार मनुष्यमें स्वतः सब परिस्थितियोंसे युद्ध करने और नया समाधान ढूँढ़नेकी ऐसी अतुल और विस्तृत क्षमता आ जाती है जो मैकडुगलकी संकुचित धारणासे कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक होती है।'

५. मैकडुगलका यह मत भी अत्यन्त अमान्य है कि 'मूलवृत्तियाँ स्वतः अस्तित्वशील (सैल्फ़ सब्सिस्टैन्ट) हैं और मनुष्य इन मूलवृत्तियोंका गट्ठर है।' वास्तवमें मनुष्यका स्वभाव परम्परासे बनता आता है जिसका परिचय हमारी मूलवृत्तियों तथा भावावेगोंमें मिल भी जाता है किन्तु ये परम्परागत प्रवृत्तियाँ अलग-अलग कोठरी बनाकर नहीं रहतीं, वे सब एक दूसरीमें घुल-मिलकर और बुद्धि-द्वारा व्यवस्थित होकर काम करती हैं। फिर यह भी सिद्ध नहीं हो सका है कि ये मूलवृत्तियाँ सदा एक-सी रहती हैं और कभी बदलती नहीं। हमारी सब मनःस्थितियाँ (मूड), आपसमें पूर्णतः घुली-मिली हुई अनेक मूलवृत्तियोंका समूह लेकर बनती हैं। हमारी वर्त्तमान प्रकृति भी प्रारम्भिक मूलवृत्तियोंसे सञ्चालित न होकर नये-नये ढङ्गसे काम करती रहती है। इससे सिद्ध होता है कि 'मूलवृत्तियाँ बदलती भी हैं। मनुष्यकी वृत्तियाँ इतनी जटिल हैं, कि

उसकी किसी भी वृत्तिके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह ज्योंकी-त्यों आदिम रूपमें विद्यमान है। हमारे यहाँ एक ओर राजस्थानका क्षत्रिय है जो किसीको मूँछ ऐंठते देख ले तो उसका सिर उतार ले और वहीं वैश्य लोग हैं जो इतने शान्तिप्रिय हैं कि लड़ाई-झगड़ेसे कोसों दूर भागते हैं।

इसके अतिरिक्त सामाजिक आचार-व्यवहार, रीति-नीति भी तो मनुष्यके व्यवहारको शासित करती है, अतः हौबहाउसका यह मत ठीक है कि 'शुद्ध मूलवृत्ति कोई वस्तु नहीं है; इसलिये नहीं कि मनुष्य विचारशील है और वह मूलवृत्तिके उद्वेगोंको अपनी और दूसरोंकी सुविधाओंके अनुसार ढालता चलता है वरन् इसलिये कि यदि मूलवृत्तियोंने हमारा कुछ व्यवहार स्थिर कर भी दिया हो तो भी वह उस निश्चित रूपमें बहुत कम होता है जैसा हमारे अनुभव और सामाजिक रीति-नीतिका सम्पर्क प्राप्त करनेसे पूर्व हममें होता रहा होगा। अतः हमें किसी भी व्यक्तिके मानसका अध्ययन उसकी परिस्थिति और सामाजिक रीति-नीतिकी दृष्टिसे भी करना चाहिए।'

इस सब शास्त्रार्थसे गिन्सबर्गने यह परिणाम निकाला है कि—'१. मानवीय व्यवहारमें ऐसे बहुतसे लक्षण मिलते हैं जो ऐतिहासिक और जीव-शास्त्रीय दृष्टिसे जीव-व्यवहार (ऐनिमल बिहेवियर) के साथ-साथ चले आए हैं अर्थात् मनुष्यके तथा अन्य जानवरोंके बहुतसे व्यवहार प्रारम्भसे ही एकसे

रहे हैं जिनमेंसे कुछ आजतक भी विद्यमान हैं और सदा रहेंगे। हमारे यहाँ इसी बात के लिये कहा गया है—

आहारनिद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥

[भोजन, नींद, डर और मैथुन ये चार तो पशु और मनुष्य दोनोंमें समान हैं किन्तु मनुष्यमें पशुओंकी अपेक्षा एक विशेषता यह होती है कि उसमें धर्म (विवेक) अधिक होता है। जिस मनुष्यमें यह धर्म नहीं वह पशुके समान है।]

२. मनुष्यके चरित्रका आधार अधिकांशतः परम्परागत होता है अर्थात् हमारी सब प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ हमारे मन की उन मूलसे भावनाओंसे बनती हैं जो मूलवृत्तिके प्राण होती हैं।

३. किन्तु (क) इन परम्परागत प्रवृत्तियोंका अलग-अलग कोई स्वतःअस्तित्व (सेल्फ़ सब्सिस्टैन्स) नहीं होता वरन् वे ऐसे ढङ्गसे एक दूसरीको सुधारती और उभाड़ती रहती हैं कि वे मनुष्यमें घुली-मिली (फ़्यूज़्ड), कटी-छँटी और विद्रूप (ट्रङ्केटेड) तथा अनगढ़ (एबौर्टेड) रूपमें मिलती हैं। (ख) यद्यपि इनका परम्परागत आधार तो स्थायी होता है किन्तु जिन रूपोंमें ये मूलवृत्तियाँ अपनेको प्रकट करती हैं वे रूप परिस्थितियों, व्यक्तियोंके अनुभव या उनकी सामाजिक रीति-नीतिके अनुसार अत्यन्त भिन्न होते जाते हैं। यदि हम रीति-नीति आदिको सामाजिक परम्परा और मूलवृत्तिके उद्वेगको जीव-शास्त्रीय

परम्परा मान लें तो कह सकते हैं कि किसी विशेष आचरणकी प्रक्रियाको ठीक समझनेके लिये हमें किसी व्यक्ति या समूहके अनुभवोंके साथ इन दोनों परम्पराओंके ठीक-ठीक प्रभत्वको मिलाकर परीक्षण करना होगा।'

मनुष्यका दुहरा व्यक्तित्व

ऊपर मूलवृत्तिके सम्बन्धमें जितना शास्त्रार्थ गिन्सबर्गने किया है उससे हम तनिक भी सहमत नहीं हैं क्योंकि मनुष्य ऐसा कुटिल और जटिल जीव है कि उसके मनकी थाह पाना बड़ा कठिन है। किसी भी मनुष्यका ठीक स्वभाव तब जाना जा सकता है जब उसके साथ कुछ दिन रहा जाय, क्योंकि बहुतसे लोग घरमें बड़े चिड़चिड़े, क्रोधी, मार-पीट करनेवाले और घर-भरके लिये काल बने रहते हैं किन्तु बाहर निकलते ही ऐसे साधु बन जाते हैं और बाहरके प्रत्येक व्यक्तिसे ऐसा मधुर व्यवहार करते हैं कि सब उन्हें देवता समझते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने घरमें जिस प्रकार खाता-पीता, रहता-सहता, हँसता-बोलता, पहनता-ओढ़ता है उसकी अपेक्षा वह समाजमें या बाहरवालोंके सामने बहुत कुछ बदलकर रहता है अतः यह बाहरका व्यवहार तो शुद्ध रूपसे बुद्धिपूर्वक, समझ-बूझकर किया हुआ और अपने समाजमें प्रचलित आचारके अनुसार होता है क्योंकि मनुष्यकी वृत्ति सदा यह रहती है कि मैं नीच, भोंड़ा, गन्दा, अशिष्ट और तुच्छ न समझा जाऊँ। अतः अन्य लोगोंके सम्पर्कमें मनुष्य जितना कुछ व्यवहार करता

है वह अपनी इसी वृत्तिके पोषणके लिये करता है। इसके पीछे उसकी आत्म-महत्ताकी भावना निरन्तर काम करती रहती है। सामाजिक उत्सवोंमें स्त्रियोंका बन-ठनकर जाना कुछ तो अपनी मर्यादाके निर्वाहके लिये किन्तु अधिकांश आत्म-प्रदर्शन, अहं-भावकी तृप्ति, दूसरोंपर अपने वैभवका आतङ्क जमाने और दूसरोंको आकृष्ट करनेके लिये ही होता है। यह सब भी सामाजिक दृष्टिसे ही होता है। अतः मनुष्यका व्यवहार मूलवृत्तिके सहारे न होकर प्रत्येक परिस्थितिके अनुसार जान-बूझकर किया हुआ होता है।

पूर्व जन्मका संस्कार

जहाँतक मनुष्यके व्यक्तिगत स्वभावकी बात है उसमें भी मूलवृत्ति जैसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि एक ही कुल-परम्परामें पले हुए और एक-सी ही परिस्थिति, वातावरण और समाजमें रहते हुए भी एक व्यक्ति साधु, दयालु और उदार होता है, दूसरा दुष्ट, क्रूर और कृपण होता है। इस स्वभाव-विभेदका कारण पूर्वजन्मका संस्कार है। मूलवृत्तिके सिद्धान्तके विरुद्ध सबसे प्रबल कारण तो यह है कि यदि मूलवृत्तियोंका कोई अस्तित्व होता तो एक परिस्थितिमें एक प्रकारके जीवका सदा एक-सा व्यवहार हुआ करता। किन्तु जानवरोंमें भी देखा जाता है कि एक बैल सीधा और सङ्केतपर काम करनेवाला होता है, दूसरा मरखना, तोड़फोड़ करनेवाला और दुर्दम होता है। रही भोजन, नींद, भय और मैथुनकी

बात, इनमेंसे भोजन और नींद तो शरीरमें किसी कमीकी सूचनाका विक्षोभ (हलचल) या वेग-मात्र है जैसे शौचका दबाव शरीरसे कुछ निकाल बाहर करनेका वेग होता है। भय भी अपनी सुरक्षामें बाधक परिस्थितियोंसे सावधान रहनेकी वृत्ति है जो पूर्णतः समाजसे सीखी हुई होती है और जिसे घरके बड़े लोग यह कहकर सिखा देते हैं कि यह मत करो, वह मत करो, आदि। मलाया और चीनमें छोटे-छोटे बच्चे साँपको पकड़कर उसे काट-कूटकर जलपान कर जाते हैं यद्यपि उनके यहाँ भी साँपसे काट लिए जानेपर मरना निश्चय है। इसी प्रकार आगसे जलने और शत्रुके आक्रमणसे भय होना स्वाभाविक है किन्तु राजस्थानकी देवियाँ हँसती-हँसती आगमें कूद पड़ती थीं और क्षत्रिय बालक युद्धके लिये ललचता रहता था क्योंकि संस्कारतः वह खाटपर मरना आत्मसम्मान तथा जातीय परम्पराके विरुद्ध समझता था। मैथुन भी एक शारीरिक विक्षोभकी तृप्ति-मात्र है पर वह भूख और नींदके समान प्रतिदिन विक्षुब्ध नहीं करता। यह तो मानसिक वासना है जो कभी-कभी, विशेषतः परलिंगीको निर्बाध रूपसे पाकर उभरता है। अतः इन शारीरिक और मानसिक वेगोंको मूलवृत्ति मानना अत्यन्त भ्रम है।

स्थायी भाव

हमारे यहाँ दार्शनिकोंने तो नहीं किन्तु साहित्य-शास्त्रियोंने रसके सिद्धान्तकी चर्चा करते हुए मानसशास्त्रीय दृष्टिसे

स्थायी भावका सिद्धान्त मानते हुए कहा है कि 'आत्माकी मायावृत स्फूर्तिके रूपमें आठ (या नौ) स्थायीभाव वासना-रूपसे हृदयमें दबे रहते हैं और जैसा आलम्बन (व्यक्ति) और उद्दीपन (परिस्थिति) पाते हैं तदनुसार ये भाव अपने अनुभाव और संचारी भावके सहारे रति, हास, शोक, भय, क्रोध, उत्साह, घृणा, कुतूहल (और शान्ति) के रूपमें प्रकट करके अपना आवेग भी स्पष्ट कर देते हैं।' मैकडुगलने जो मूलवृत्तियाँ गिनाई हैं उनसे ये भिन्न भी हैं और अधिक बुद्धिसंगत भी हैं। सामाजिक मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इनका ही अधिक महत्त्व भी है किन्तु मानस-शास्त्रियोंने अभी इसपर विशेष विचार नहीं किया है। इन आठ (या नौ) स्थायीभावोंका सिद्धान्त मान लेनेपर मनुष्यकी संपूर्ण चेष्टाओंके कारण भी स्पष्ट हो सकते हैं और यह भी सिद्ध हो सकता है कि मनुष्यका संपूर्ण व्यवहार शुद्धतः पर-सापेक्ष्य अर्थात् सामाजिक ही है और मूलवृत्ति नामकी कोई वस्तु ही नहीं है।

७

धारणा

मूलवृत्तिका विवेचन कर चुकनेके पश्चात् धारणा (एटिट्यूड) का भी परिचय दे देना आवश्यक है क्योंकि कुछ मानस-शास्त्रियोंने 'धारणाओंके वैज्ञानिक अध्ययनको ही सामाजिक मानस-शास्त्र बताया है।' धारणा (एटिट्यूड) केवल मानसिक स्थिति-मात्र नहीं है, वह उससे कुछ और भी अधिक है। वह वास्तवमें किसी कामके प्रति मनका झुकाव है। किसी व्यक्तिकी धारणा प्रायः यह निश्चय किया करती है कि मैं अमुक स्थितिमें किस प्रकारका व्यवहार करूँ अर्थात् जिस व्यक्तिकी जैसी धारणाएँ होती हैं वह उन्हींके अनुसार जीवनमें व्यवहार करता है। मानसशास्त्रियोंने धारणाओंको साधारणतः दो वर्गोंमें विभक्त किया गया है—अनुकूल (फ़ेवरेबिल या पौज़िटिव) और प्रतिकूल या अननुकूल (अनफ़ेवरेबिल या निगेटिव)। कुछ लोगोंने अन्य प्रकारोंसे भी धारणाओंका वर्गीकरण किया है जैसे विशिष्ट (स्पेसिफ़िक) और सामान्य (जनरल), अस्थायी (टेम्पोरेरी) और स्थायी (पर्मानेण्ट), प्रत्यक्ष

(पब्लिक) और गुप्त (प्राइवेट), सर्वसामान्य (कौमन) और व्यक्तिगत (इंडिविजुअल) ।

गौर्डन डब्ल्यू० औलपोर्टने धारणाको 'मानसिक और शारीरिक क्रियाके लिये स्नायु-मानसिक तत्परताकी स्थिति' (न्यूरो-साइकिक स्टेट औफ रेडिनेस फ़ौर मैंटल ऐंड फ़िज़िकल एक्टिविटी) बताते हुए कहा है कि 'ये धारणाएँ कई प्रकारसे बनती हैं। कभी तो ये एक ही प्रकारके अनेक अनुभवोंके कारण बन जाती हैं, कभी किसी आवेगपूर्ण घटना या शोकके आघातसे सहसा बन जाती हैं और कभी-कभी ज्योंकी त्यों माता-पिता, अध्यापक, साथी आदिके संसर्गके कारण बन जाती हैं।'

येल विश्वविद्यालयके भूतपूर्व अध्यापक, जेरोमी डैविसने रूसके वर्गवादी नेताओंका अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि उनमें क्रान्तिकारी प्रवृत्तिकी उत्पत्ति कमसे कम पच्चीस प्रभावोंके कारण हुई जिनमें अध्यापक, सहपाठी, सह-धर्मी, पुस्तक और परिवारका सबसे अधिक हाथ रहा । साथ ही ज़ारके अत्याचारों तथा अन्य आकस्मिक विपत्तियोंके कारण भी धारणा बननेमें वैसी ही सहायता मिली जैसे भारत-विभाजनके समय होनेवाले आकस्मिक उत्पातोंके कारण । इससे यह भी ज्ञात हुआ कि वर्गवादी (कम्यूनिस्ट) नेताओंमेंसे तीन चौथाई लोगोंने इक्कीस वर्षकी अवस्थासे ही अपनी विप्लवात्मक क्रियाएँ प्रारम्भ कर दी थीं ।

ब्रूनो लास्कर नामक समाजशास्त्रीने बच्चोंकी जातिगत-धारणाओंका कारण ढूँढ़नेका प्रयत्न करते हुए यह अनुभव किया कि 'बच्चोंने अपने माता-पिता तथा अन्य लोगोंसे अनजाने ही बहुतसी मान्यताएँ (प्रिजूडिसेज़) ग्रहण कर ली हैं। चिढ़ानेके नाम आदि बातोंको बच्चे अत्यन्त शीघ्रतासे ग्रहण कर लेते हैं और यदि उनके सामाजिक मंडलमें किसी बातको बुरा माना जाता हो, किसीको छोटा समझा जाता हो या दूसरोंको तंग करनेकी प्रवृत्ति हो तो उसे भी सीख लेते हैं।' हमारे यहाँ नाई, सुनार तथा अन्य कई जातियोंके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी धारणाएँ बन गई हैं जिन्हें बालक अपनी जातिसे ही ग्रहण कर लेता है और तदनुसार उसकी धारणा बन जाती है जैसे 'नराणां नापितो धूर्त्तः' (मनुष्योंमें नाई धूर्त होता है); 'क्वचित्काणः भवेत्साधुः' (कोई-कोई काना ही भला होता है), सबसे चतुर सुनार, ताहूकौ गुरु बानिया, ताहि ठगै भुइँहार लीसा-लूसी लाइकै, बाम्हनका बेटा सदा पोंगा रहा, 'नागनागरयोर्मध्ये वरं नागो न नागरः' (सर्प और नागर अर्थात् गुजराती ब्राह्मणमें सर्प अधिक अच्छा है), आदि। इसी प्रकार स्कौच अपनी कृपणताके लिये और यहूदी अपनी लोभ-धारणाके कारण बदनाम है। अतः सब जातियोंने दूसरी जातियोंके प्रति जो धारणा बना ली है वही उस जातिके सब सदस्योंकी धारणा बन जाती है।

मनोवृत्तियोंकी माप

बहुतसे मानसशास्त्री मानते हैं कि हमारा मत (ओपीनिअन) भी हमारी धारणाकी अभिव्यक्ति ही है। इन मतोंसे हमारी वास्तविक धारणाएँ भले ही ठीक-ठीक न प्रकट हो पावें किन्तु धारणाओंका सीधा अध्ययन भी किया जा सकता है। इन धारणाओं और मतोंकी ठीक माप करनेके लिये साधारणतः तीन उपायोंका अवलम्ब लिया जाता है—१. मतगणना, जिसका प्रयोग समूचे अमरीकी राष्ट्रमें जौर्ज गैलप आदिने अभी हालमें किया था जिसमें उन्होंने वर्त्तमान संस्थाओंके सम्बन्धमें लोगोंका मत संग्रह करके उनका अध्ययन किया था। २. प्रश्नावली (क्वैश्चनेअर), जिसमें जातिगत धारणा, रूढिगत धारणा तथा शान्तिस्थापन आदि अनेक विषयोंपर एक प्रश्नावली घुमाकर उनके उत्तरोंसे धारणाओं और मतोंका अध्ययन किया जाता है। ३. शिकागो विश्वविद्यालयके लुई एल्० थर्स्टनने इस विधानको और अधिक उन्नत करके ऐसे वैज्ञानिक ढंगसे परीक्षाएँ चलाईं जिनमें प्रश्न कम किन्तु अधिक व्यापक और इस प्रकार सन्तुलित रहे कि उनमें अतिशय रुचि (स्ट्रौंग लाइक्स) और अतिशय अरुचि (स्ट्रौंग डिस्लाइक्स) दोनों विद्यमान थे। इन तीनों उपायोंके आधारपर जो सैकड़ों परीक्षाएँ ली गईं उनसे धारणाके सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी विचित्र और कुतूहलजनक बातें ज्ञात हुईं।

एमरी एस० बोगार्डसने 'सामाजिक भेद-परीक्षण' (सोशल

डिस्टेन्स टेस्ट) के सम्बन्धमें यह भी परीक्षण किया कि अन्य जातियों और राष्ट्रोंके प्रति हमारी क्या धारणा या भावना है। अमरीकाके कुछ सज्जनोंसे यह पूछा गया कि आर्मीनी, कनाडी, चीनी, अँगरेज़, जर्मन, इतालवी, यहूदी, हब्शी, स्पेनी, तुर्क, हिन्दू और जापानी आदि अनेक जातियोंके सदस्योंको आप निम्नलिखित कोटियोंमेंसे किनमें स्वीकार करेंगे—

१. उनके साथ विवाह सम्बन्ध करके अत्यन्त निकट सम्बन्ध स्थापित करना।

२. अपने क्लबमें व्यक्तिगत मित्रके रूपमें।

३. अपनी गली या मुहल्लेमें पड़ोसीके रूपमें।

४. अपने देशमें तथा अपने व्यवसायमें वेतनभोगी कर्मचारीके रूपमें।

५. अपने देशके नागरिकके रूपमें।

६. अपने देशमें केवल पर्यटकके रूपमें।

७. अपने देशसे पूर्णतः बाहर।

इनके उत्तर अत्यन्त अप्रत्याशित और कुतूहलजनक थे। अधिकांश लोगोंने कनाडी, अँगरेज़ और अन्य योरपवालोंको श्रेष्ठ मानकर उन्हें अपनानेकी रुचि प्रकट की और हिन्दू, जापानी, हब्शी और तुर्कोंका अत्यन्त बहिष्कार किया। इससे यह परिणाम निकाला गया कि 'उन लोगोंने केवल उन्हींके प्रति पक्षपात दिखायी और उन्हींसे अपना सामाजिक सम्बन्ध

अत्यन्त अधिक जोड़ना चाहा जिन्हें वे अपनेसे अत्यधिक सम्बद्ध समझते थे।'

'एक यह भी विचित्र बात थी कि इनकी जो धारणा विभिन्न जातियोंके प्रति थी वही उन जातियोंके प्रत्येक व्यक्तिके प्रति भी लगभग वैसी ही थी जैसी हम ऊपर भारतकी जातिगत धारणाओंके सम्बन्धमें बता चुके हैं। बोगार्डसको यह जानकर आश्चर्य हुआ कि अमरीकी लोग तुर्कोंसे बहुत भड़कते हैं यद्यपि जिन लोगोंका परीक्षण हुआ था उनमेंसे एक भी व्यक्ति तुर्कको जानतातक नहीं था, देखनेकी बात तो दूर रही। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि हम दूसरोंसे सुनकर भी ज्योंकी त्यों धारणाएँ ग्रहण कर लेते हैं। प्रथम महायुद्धके पश्चात् जो विभिन्न जातियोंके अत्याचारोंकी कथाएँ फैलीं उनसे भी इस प्रकारकी अनेक धारणाएँ बन गईं। पिछले महायुद्धमें अँगरेज़ों और अमरीकियोंने मिलकर जो हिरोशिमाको ध्वंस किया उससे अँगरेज़ों और अमरीकियोंके प्रति लोगोंकी बड़ी बुरी धारणा हो गई।

शिक्षा-मानसशास्त्री मैनली एच० हार्परने एक ऐसा परीक्षण चलाया था जिससे हमारी उदार-वृत्ति (लिबरलिज़्म) और रूढ-वृत्ति ('कंज़रवेटिज़्म) के परिमाणका परीक्षण किया जा सके। उसने अमरीका-भरमें इसका परीक्षण कराकर यह परिणाम निकाला कि 'दक्षिणी अमरीकाके लोग अधिक रूढ़िवादी हैं तथा पश्चिमी भागके लोग अधिक उदार।' हार्परके

इन परीक्षणोंका प्रयोग करनेवालोंने विवरण दिया है कि 'अन्य लोगोंकी अपेक्षा व्यवसायी लोग अधिक उदार हैं और कौलेजके विद्यार्थी भी ज्यों-ज्यों कौलेजकी कक्षाओंमें ऊपर चढ़ते चलते हैं त्यों-त्यों उदार होते जाते हैं, विशेषतः सामाजिक-विज्ञान पढ़नेवाले छात्र । इन परीक्षणोंसे यह भी देखा गया कि अध्यापक लोग जैसे रूढिवादी या सुधारक होते हैं वे अपनी-अपनी धारणाके अनुसार विद्यार्थियोंकी धारणा बनाते रहते हैं ।

सन् १९३० के लगभग डेनियल कात्स और फ़्लौयड औलपोर्टने साइराक्यूज़ विश्वविद्यालयके चार सहस्रसे अधिक विद्यार्थियोंकी अनेक धारणाओंका परीक्षण करके देखा कि धर्मके प्रति उनकी धारणाएँ अधिक स्पष्ट हैं। यह भी देखा गया कि पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक धर्मभीरु तथा धर्मनिष्ठ हैं और उच्च वर्गके लोगोंकी अपेक्षा निम्न वर्गके लोग रूपाकार-युक्त ईश्वर (पर्सनल गौड) और उसकी प्रार्थनामें अधिक विश्वास करते हैं । यह भी देखा गया कि कौलेजमें प्रविष्ट होते समय जिस छात्रका जो धार्मिक विश्वास होता है वह अन्त-तक बना रहता है और नास्तिकोंकी अपेक्षा अत्यन्त कट्टर धार्मिक विद्यार्थी अपनी धार्मिक धारणाएँ अधिक बदल देते हैं ।

धारणाओंका गठबन्धन

कुछ मानस-शास्त्रियोंने यह भी प्रश्न उठाया है कि क्या व्यक्तिके स्वभाव (पर्सनैलिटी ट्रेट्स) के साथ भी कुछ विशेष

धारणाएँ बँधी रहती हैं। कात्स और औलपोर्टने दो प्रकारके विद्यार्थियोंकी परस्पर तुलना की—(१) जिन्हें अपने धार्मिक विश्वासके नष्ट हो जानेपर बड़ी चिन्ता थी और (२) जिन्होंने यह बतलाया कि कौलेजमें उन्हें सन्तोषजनक जीवन-दर्शन प्राप्त हो गया। इनमेंसे प्रथम वर्गके छात्रोंमेंसे लगभग दुगने व्यक्तियोंने बताया कि 'हमें व्यक्तिगत समस्याओंपर पथनिर्देशकी आवश्यकता है,' क्योंकि जहाँ धार्मिक विश्वासके सम्बन्धमें चिन्ता उठ खड़ी होती है वहाँ अन्य प्रकारकी भी मानसिक विषमताएँ उठ खड़ी होती हैं। कौलोराडो विश्वविद्यालयके टौमस एच्० हौवेल्सने पचास अत्यन्त सुधारवादी तथा पचास अत्यन्त रूढिवादी छात्रोंके धार्मिक विश्वासोंकी तुलना की। इस तुलनासे उन्होंने परिणाम निकाला कि 'रूढिवादियोंकी अपेक्षा सुधारवादी छात्र अधिक कष्ट-सहिष्णु, अत्यन्त कम विभावनशील (सजेस्टिबिल) अर्थात् दूसरोंसे बहुत कम प्रभावित होनेवाले तथा अत्यन्त लगनसे काम करनेवाले होते हैं। इस सम्बन्धके अनेक अध्ययनोंसे ज्ञात हुआ कि उदारता अर्थात् सुधारकी भावनाका सम्बन्ध ज्ञानके परिमाणसे अधिक है अर्थात् जिसे जितने ही अधिक विषयोंका जितना अधिक ज्ञान होगा वह उतना ही अधिक उदार या सुधारवादी होगा'। पीटर ओड्गार्डने कौलेजके तीन सहस्र छात्रोंका परीक्षण करके देखा कि रूढिवादियोंकी अपेक्षा सुधारवादी छात्र अपने विषयको अधिक भली-भाँति जानते हैं। गुडविन बी०

वाट्सन, परसिवल एम्० सिमन्ड्स आदिने विभिन्न सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियोंका अध्ययन करके भी यही परिणाम निकाला है। प्रायः धारणा और ज्ञानमें परस्पर कम सम्बन्ध होता है किन्तु जहाँ धारणा और ज्ञानमें अधिक अन्तर होता है वहाँ यही देखा जाता है कि अधिक ज्ञान प्राप्त किए हुए लोग प्रायः सुधारवादी या उदार होते हैं। हार्परने परीक्षण करके देखा कि जो लोग कुछ कम उदार होते हैं उनकी अपेक्षा अति उदार लोगोंकी धारणाएँ अधिक दृढ़ होती हैं। उसका कारण सम्भवतः यही है कि अति उदार लोगोंको अपने विषयका अधिक पूर्ण ज्ञान होता है। हैडली केन्ट्रिलने यह परिणाम निकाला कि 'लोगोंकी जो प्रबल धारणाएँ होती हैं उन्हींके अनुसार उनके विश्वास बनते हैं और उन्हींके अनुसार ही वे भावी घटनाओंके परिणाम भी देखते हैं।' सन् १९३३ में उसने विभिन्न प्रकृतिके व्यक्तियोंके एक समूहसे पूछा कि 'अमुक-अमुक घटनाका क्या परिणाम होगा? जैसे १९४३ और १९५०के बीच संयुक्त राज्य अमरीकामें मन्दी होगी या नहीं? स्पेनी युद्धमें कौन जीतेगा? आदि।' उन लोगोंकी एक छोटी-सी धारणा-परीक्षा लेकर कैन्ट्रिलने यह परिणाम निकाला कि 'इस परीक्षामें सम्मिलित होनेवाले व्यापारी, वकील और वर्गवादी आदि सभीने अपनी-अपनी प्रधान धारणाके अनुसार भविष्य-वाणी की अर्थात् यदि उन्हें फ्रैन्को अच्छा लगता थी तो उन्होंने स्पेनकी विजय घोषित की।' किन्तु उसी मण्डलके

समाज-विज्ञान पढ़नेवाले लोगोंने पूर्णतः स्वतन्त्र रूपसे भविष्यवाणी की। इन परीक्षणोंसे सिद्ध हो गया कि 'हमारे सामाजिक विचारोंका आधार हमारी धारणाएँ हैं जो समाजके सम्पर्कसे ही बनती हैं।'

धारणाओंमें परिवर्त्तन

अनेक मानस-शास्त्रियोंने कई कुतूहलजनक अध्ययन करके यह प्रदर्शित किया है कि धारणाएँ कैसे बदलती हैं। डोनाल्ड यङ्गने जातीय समस्याओंके अध्ययनका विषय लेनेसे पूर्व और अध्ययन कर चुकनेके पश्चात् पाँच सौ छात्रोंकी जातीय और राष्ट्रीय धारणाओंका परीक्षण करके परिणाम निकाला कि 'विभिन्न जातियोंकी जन्मजात योग्यताके सम्बन्धमें जो उनकी धारणाएँ थीं उनमें बहुत कम या तनिक भी परिवर्त्तन नहीं हुआ।' किन्तु आर्थर कोर्नहाउसने देखा कि 'अर्थशास्त्रमें भू-माप (सर्वे) पढ़नेवाले छात्र एक वर्षके पाठ्यक्रमके अनन्तर अधिक उदार हो गए।' परड्यू विश्वविद्यालयके हरमार्न एच्० रीमर्स तथा उसके सहयोगीने भी यही परिणाम निकाला कि 'कुछ महीने समाज-विज्ञान पढ़ लेनेके अनन्तर छात्रोंकी उदारता कुछ अवश्य बढ़ जाती है।'

सामान्यतः कर्त्ताओंके व्याख्यानों और शास्त्रार्थोंकी अपेक्षा वास्तविक जीवनके अनुभवोंसे धारणाएँ अधिक बदलती हैं। प्रारम्भिक बेकारीके वर्षोंमें मिल्टन हौलने कामसें लगे हुए और बेकार इञ्जीनियरोंकी धारणाओंकी तुलना की। जो

लोग अधिक समयसे बेकार थे उनमें धार्मिक विश्वास कम हो चला था और अमरीकाके रूढिगत आदर्शोंके प्रति कुछ विशेष चिढ़ हो गई थी। वे समझते थे कि परिश्रमका कोई महत्त्व नहीं है। उनके राजनीतिक विचार बहुत कम रूढ रह गए थे फिर भी वे समाजवादी या वर्गवादी नहीं हो पाए थे। इन बेकारोंमेंसे लगभग एक चौथाई समझते थे कि देशके लिये क्रान्ति आवश्यक है किन्तु दूसरी ओर उतने ही लोग यह भी विश्वास करते थे कि अधिनायकतन्त्र ही अच्छा होगा। लुई एल्० थर्स्टन और उसके सहयोगियोंने हाई स्कूलके कई सौ छात्रोंका परीक्षण करके देखा कि चल-चित्र देखनेसे कुछ दिन पूर्व तथा चित्र देखनेके तत्काल पश्चात् उनकी धारणाएँ चल-चित्र (सिनेमा) से अधिक बदली हैं। तदनन्तर कई मास पश्चात् एक आवृत्ति परीक्षा (फ़ौलो-अप टेस्ट) लेकर थर्स्टनने परिणाम निकाला कि 'कुछ चित्र निश्चित रूपसे धारणाएँ बदल देते हैं।' 'दि सन् ऑफ़ दि गौड्स' (देवपुत्र) नामक चित्र देखनेके पश्चात् चीनियोंके प्रति लोगोंकी धारणा कुछ अच्छी हो गई और 'फ़ोर सन्स' (चार पुत्र) नामक चित्र देखनेके पश्चात् बालकोंकी धारणा जर्मनीके प्रति कुछ अच्छी हो गई। 'औल क्वाएट औन दि वैस्टर्न फ्रन्ट' (पश्चिमी सीमापर पूर्ण शान्ति) चित्र देखनेपर छात्रोंके मनमें शान्तिवादी धारणा अधिक प्रबल हो गई। इसी प्रकार 'स्ट्रीट ऑफ़ चान्स' (भाग्य-वीथिका) चित्र देख लेनेपर

छात्रोंके मनमें जुआ खेलनेके प्रति बड़ी घृणा हो गई और 'दि बर्थ औफ़ ए नेशन' (राष्ट्रकी उत्पत्ति) नामक चित्र देखनेसे हब्शियोंके प्रति उनकी घृणा बढ़ गई। इतना ही नहीं, ये सब प्रभाव कई महीनेतक, यहाँतक कि कुछ लोगोंमें तो लगभग दो-दो वर्षतक, बने रहे। यदि ये परीक्षण निरन्तर चलते रहते तो सम्भवतः और भी अधिक देरतक रहनेवाले प्रभाव भी जाने जा सकते।

कोलम्बिया विश्वविद्यालयके अध्यापक-विद्यालयके ट्रेडवेल स्मिथने सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी जातीय धारणाएँ बदल जाती हैं। न्यूयार्कके हब्शी प्रदेशके हार्लेम नगरमें लगभग पचास ग्रेजुएट छात्रोंने दो शनिवारोंको जाकर वहाँके अत्यन्त प्रमुख हब्शी सम्पादकों, डाक्टरों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और कलाकारोंसे बातचीत की, नीग्रो विद्यालयके प्राचीन छात्रोंके साथ चाय पीई तथा उनके अस्पताल, गिरजाघर और सहकारी संस्थाओंका निरीक्षण किया। इस यात्रासे पहले और पीछे उन ग्रेजुएटोंकी चार धारणा-परीक्षाएँ ली गई थीं जिनसे यह परिणाम निकला कि वहाँसे लौट आनेके पश्चात् उन अमरीकी छात्रोंके हृदयमें हब्शियोंके प्रति अधिक सहानुभूतिका भाव उत्पन्न हो गया था और उनकी यह धारणा एक वर्षतक अवश्य बनी भी रही।

जिन विद्वानोंने चल-चित्रोंके प्रभावोंके स्थायित्वके सम्बन्धमें प्रयोग किए हैं उन्होंने दो बातोंपर विचार नहीं किया, एक

तो यह कि जो लोग निरन्तर चल-चित्र देखते हैं, क्या उनकी धारणाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं ? दूसरी बात यह है कि थर्स्टन और उसके सहयोगियोंने जिसको चित्र देखनेके पश्चात्‌की धारणा कहा है वह केवल अस्थायी रुचिमात्र है। इसे यों कह सकते हैं कि जैसे कोई भयानक स्वप्न देख लेनेपर उसका एक स्मृति-संस्कार मनपर बन जाता है वैसे ही चल-चित्रका भी एक स्मृति-संस्कार बन जाता है जो उसी प्रकारका होता है जैसा उपन्यास पढ़ लेनेके पश्चात् उपन्यासके चरित्रों और कथाओंसे विभावित होनेपर अनुभव हुआ करता है। अतः जैसे वह संस्कार दूसरा उपन्यास प्रारम्भ करते ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार चल-चित्रका प्रभाव भी दूसरा चल-चित्र देखते ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकारकी न जाने कितनी अस्थायी धारणाएँ नित्य हमारे मनपर पड़ती रहती हैं और आवृत्ति न होनेसे वे विस्मृतिके गर्भमें लीन होकर नष्ट होती रहती हैं, स्थायी संस्कार या धारणा बनकर निरन्तर नहीं बनी रहतीं।

८

स्फूर्ज (ड्राइव)

मानव-व्यवहार किसी मूलवृत्तिसे तो नहीं किन्तु स्पष्टतः किसी न किसी उत्प्रेरणासे तो उत्पन्न होता ही है। जीव-मानस-शास्त्रियों (ऐनिमल साइकोलौजिस्ट्स) ने इस उत्प्रेरणाके लिये वुडवर्थका 'ड्राइव' (स्फूर्ज या विस्फूर्त्ति) शब्द स्वीकार कर लिया है। स्फूर्ज वह शक्ति या झोंक है जो किसी व्यवहारको धक्का देकर परिचालित करे। आगे चलकर स्फूर्ज (ड्राइव) या झोंकका अर्थ वह शक्ति या क्रिया माना गया जो भूख, प्यास, मैथुन, थकावट, शौच आदि शारीरिक कमियों, वेगों तथा आवश्यकताओंके कारण उत्पन्न होती है। इनमेंसे भूखके स्फूर्ज, वेग या झोंकपर जीव-विज्ञानवालोंने बहुत पहले ही अध्ययन कर लिया था। हार्वार्डके वाल्टर बी० कैनन और शिकागोके एन्टन जे० कार्लसनने खोज करके बताया है कि 'पेटके भीतर जो एक नियमित तालके साथ निरन्तर संकोच होता रहता है उसीसे भूख उत्पन्न होती है।' इसी कारण हमारे यहाँ उक्ति ही चल पड़ी है कि उसके पेटमें चूहे कूद रहे हैं। पीछे चलकर

एक जापानी शरीर-शास्त्री तोमीवादाने सिद्ध किया कि जब मनुष्य साधारण भूखा होता है तब उसके सामान्य पुट्ठोंकी क्रिया (मस्कुलर ऐक्टिविटी) और मानसिक सजगता बढ़ जाती है । चीनी शरीर-शास्त्री गिङ् भी वाङ्ने श्वेत चुहियाकी क्रीडा-गतिपर कामोद्दीपनके प्रभावका अध्ययन करके देखा कि पिंजड़ेमें पाली हुई चुहिया प्रतिदिन उसमें जितने चक्कर लगाती है उसकी अपेक्षा चौथे दिन कामोत्तेजना होते ही वह दुगुने चक्कर लगाने लगती है । किन्तु नर-चूहेमें, चुहियाके बच्चोंमें, दूध पिलानेवाली चुहियोंमें या गर्भिणीमें इस प्रकारका क्रिया-परिवर्तन नहीं पाया जाता । इस आधारपर वाङ्ने निश्चित रूपसे सिद्ध कर दिया कि चूहेकी क्रिया-शक्तिपर कामोद्दीपनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है ।

जेम्स हौकिन्सके शरीरशास्त्री कर्ट पो० रिख्टेरने हमारे शरीरकी गाँठों और स्फूर्जों (ड्राइव) का सम्बन्ध बताते हुए कहा है कि 'जिन चूहोंको बधिया कर दिया जाता है या जिनकी गलेकी गाँठें निकाल दी जाती हैं उनकी क्रियाशक्ति बहुत कम हो जाती है ।' इसी प्रकार हमारे यहाँ जो लोग बैलोंको यह समझकर बधिया कर देते हैं कि इससे बैलकी शक्ति बढ़ेगी उसका परिणाम ठीक उलटा होता है, क्योंकि बधिया कर देनेसे बैलकी शक्ति चौथाईसे भी कम रह जाती है। उपर्युक्त ग्रन्थियोंके निकालनेका प्रभाव चूहोंपर यह होता है कि उस पिंजरेमें जहाँ

वे एक दिनमें कई सहस्र चक्कर लगाते थे, वहाँ केवल कुछ सौ चक्कर लगाते हैं।

चूहोंपर प्यासके प्रभावका अध्ययन करते हुए लुसियन एच्० वार्नरने देखा कि 'शरीरमें पानीकी कमी होनेसे अर्थात् प्यास लगनेसे भूखका वेग कम हो जाता है।' फ्रैड ए० मौसने परीक्षा करके देखा कि 'भूखमें कामोत्तेजना मन्द पड़ जाती है।' वौल्टर आर० माइल्सका अनुभव है कि 'जिन नवयुवकोंने केवल प्रयोगके लिये ही अपना नित्यका भोजन कम कर दिया उनमें काम-भावना उतने समयतक कम हो गई थी।' हमारे यहाँ तो यह श्लोक ही प्रसिद्ध है।

काव्येन हन्यते शास्त्रं काव्यं गीतेन हन्यते।
गीतञ्च स्त्रीविलासेन स्त्री-विलासो बुभुक्षया॥

[काव्यके आगे शास्त्रकी कोई पूछ नहीं होती, गीतके आगे काव्यकी कोई बात नहीं पूछता, स्त्री-विलासके आगे गीतका कोई मूल्य नहीं और भूखके आगे स्त्री-विलास भी लुप्त हो जाता है।]

कोलम्बिया विश्वविद्यालयके कार्ल जे० वार्डनने स्फूर्तिकी शक्तिका माप करनेके लिये एक लम्बी बाधापेटिका (औब्स-ट्रक्शन बौक्स) बनाई जिसके एक ओर एक दड़बेमें तो एक भूखा-प्यासा चूहा लाकर बैठा दिया गया और दूसरी ओर खाना-पानी या अन्य प्रलोभनीय वस्तुएँ रख दी गईं। उस चूहे और उन प्रलोभनीय वस्तुओंके बीच एक

अत्यन्त सँकरा मार्ग बना रहता है, जिसके नीचे ऐसा बिजलीका खटका लगा रहता है कि चूहेके स्फूर्जके अनुसार अर्थात् धक्का सहन करनेके सामर्थ्यके अनुसार ही उसे धक्का लगता है। वार्डनका सबसे प्रसिद्ध प्रयोग यह है कि कि उसने श्वेत चूहोंकी पाँच प्रधान स्फूर्जोंकी सापेक्ष शक्तियोंकी तुलना की। उसने भूखे या प्यासे चूहेको उस सँकरे मार्गसे जाने दिया और खाना या पानी ग्रहण करने दिया और फिर उसे उसी किनारेवाले डब्बेमें लाकर बैठा दिया। वह जितनी बार भी उस बीचके सँकरे मार्गको पार करके गया उतनी ही बार वह पुनः उठाकर रख दिया गया। इस प्रयोगमें यह जाँचा गया कि उस चूहेने बीस मिनटमें वह मार्ग कितनी बार पार किया। इस प्रकार अनेक चूहोंके अधिकाधिक स्फूर्जोंका प्रयोग करके वार्डनने निम्नलिखित परिणाम निकाले—

स्फूर्ज	प्रलोभनीय वस्तु	पार करनेकी संख्या
मातृत्व	बच्चे रखने-योग्य घास-फूस	२२·४
प्यास	पानी	२०·४
भूख	खाद्य	१८·२
कामोत्तेजन	चुहिया	१३·८
नये स्थानकी खोज	नया स्थान	६·०

मातृत्व, प्यास और भूखके स्फूर्ज (ड्राइव) लगभग एक-से ही होते हैं और वे कामोत्तेजन तथा नये स्थानकी खोजके स्फूर्जोंसे अधिक तीव्र होते हैं। सन् १९२४ में साइराक्यूज़

विश्वविद्यालयके फ्लौयड एच्० औलपोर्टने मानवीय क्रियासत्त्व (मोटिवेशन) का अध्ययन करते हुए कुलपरम्परासे प्राप्त छः मूलभूत मानवीय स्वतः-क्रियाएँ (प्री-पोटेन्ट रिफ्लेक्सेज़) गिनवाई हैं—१. आगे बढ़ना और पीछे हटना ; २. अस्वीकार करना ; ३. जी-तोड़ प्रयास करना ; ४. भूखकी प्रतिक्रिया ; ५. गुदगुदानेकी प्रतिक्रिया ; और ६. कामोत्तेजनकी प्रतिक्रिया। इनमेंसे प्रथम चार तो जन्मसे ही प्रारम्भ हो जाती हैं, गुदगुदानेकी प्रतिक्रिया अर्थात् गुदगुदी कुछ बचपनसे होने लगती है और कामोत्तेजन बहुत पीछे चलकर होता है। औलपोर्टका कहना है कि 'ये छः मूल स्वतःक्रियाएँ भी बदली जा सकती हैं और शिक्षाके द्वारा भिन्न रूपोंमें ढाली भी जा सकती हैं, जैसे—अस्वीकार करनेकी क्रियाको स्वच्छताके रूपमें, जी-तोड़ प्रयास करनेकी क्रियाको कलहप्रियताके रूपमें और कामोत्तेजनकी क्रियाको मातृत्व और पितृत्वके अभ्यासमें।' किन्तु स्वच्छता या कलहप्रियता कोई मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) नहीं परन् एक सामाजिक अभ्यास-मात्र है जिसे हम व्यक्तिगत अनुभवसे ही सीखते हैं।

मनोवृत्ति (मोटिव)

स्फूर्ज (ड्राइव) शब्द भी कुछ दिनोंमें सम्पूर्ण मानवीय क्रिया-सत्त्वों (मोटिवेशन्स) की अभिव्यक्तिके लिये अपर्याप्त प्रतीत होने लगा क्योंकि अन्य जीवोंकी अपेक्षा मनुष्य इतना अधिक जटिल होता है कि उसमें शारीरिक उत्प्रेरणाओंके अतिरिक्त

सामाजिक स्रोतोंसे भी अनेक शक्तिशाली उत्प्रेरणाएँ उत्पन्न होती रहती हैं जैसे बहुतसे लोगोंमें धनसंग्रह करने, रखने या दूसरोंकी सम्पत्ति हड़पनेकी इच्छा। ऐसी उत्प्रेरणाओंकी जड़ बड़ी गहरी होती है। किन्तु कुछ व्यक्तियोंमें या (जैसा नरविज्ञानशास्त्री फ्रान्स बोआसने सिद्ध किया है कि बृटिश कोलाम्बियाके क्वाक्यूत्ल इण्डियनोंकी) पूरीकी पूरी संस्कृतियोंमें उसका अभाव देखकर स्पष्ट होता है कि ये उत्प्रेरणाएँ उन्हें सांस्कृतिक प्रभावसे ही प्राप्त हुई हैं। अतः इन सब शारीरिक स्फूर्जों और सामाजिक उत्प्रेरणाओंको एक शब्दमें अभिव्यक्त करनेके लिये एक नया 'मनोवृत्ति' (मोटिव) शब्द चलाया गया।

समाजशास्त्री विलियम आइ० टौमसने मानवीय मनोवृत्तियोंकी एक अत्यन्त सुन्दर, छोटी-सी, व्यापक, अत्यन्त प्रसिद्ध और पूर्ण सूची बनाकर कहा है कि 'प्रत्येक साधारण सयाने (नौर्मल ऐडल्ट) में चार मूल मनोवृत्तियाँ (फ़ंडामेण्टल मोटिव्ज़) होती हैं—१. सुरक्षाकी इच्छा (डिज़ायर फ़ौर सिक्योरिटी); २. प्रतिक्रिया (रेस्पोन्स) की वासना ३. प्रशंसित होने (रिकग्निशन) की इच्छा और ४. नया अनुभव प्राप्त करने (न्यू एक्स्पीरिएन्स) की इच्छा। अपनी सुरक्षाके लिये हम खाना, कपड़ा, घर आदि शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके साधन जुटाते हैं, कहीं काम करते हैं और सम्पत्ति बटोरते हैं। अपनी प्रतिक्रिया (पारस्परिक आचरण) की इच्छा

पूर्ण करनेके लिये हम (पुरुष या स्त्री) किसी अन्य (स्त्री या पुरुष) का सामाजिक या पारस्परिक संसर्ग खोजते हैं। यश, कीर्त्ति और प्रशंसा प्राप्त करनेके लिये हम अपने सामाजिक मण्डलका समर्थन प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं और नया अनुभव प्राप्त करनेके लिये हम अपने साधारण कामकाज छोड़कर नये-नये संकटपूर्ण कामोंमें हाथ डालते हैं। हमारी (अमरीकी) संस्कृतिके प्रत्येक सामान्य व्यक्तिमें ये चार मनोवृत्तियाँ कम या अधिक परिमाणमें अवश्य होती हैं। जो व्यक्ति व्यवस्थित चित्तवाला (वेल-एडजस्टेड) होता है वह अपनी इन चारों मनोवृत्तियोंको अत्यन्त योग्यता और सुचारु रूपसे तृप्त करता रहता है।'

इच्छा : अस्थायी रूपसे जो चाह उठती है और तृप्त हो जानेपर समाप्त हो जाती है उसे इच्छा कहते हैं।

अभिलाषा : जिस इच्छाकी पूर्त्तिके लिये कष्टसाध्य परिश्रम अपेक्षित हो और फिर भी उसकी सम्भावना अनिश्चित हो, उसे अभिलाषा कहते हैं।

लालसा : जो वस्तु सुगमतासे प्राप्य हो किन्तु किसी प्रकारकी बाधा, सङ्कोच आदिके कारण उसे पूर्ण करनेमें कठिनाई हो।

कामना : जो कार्य भविष्यमें भगवान् या दैवी शक्तियोंके हाथमें हों उनकी दूसरोंके भलेके लिये आशा करनेको ही कामना कहते हैं।

वासना : जो इच्छा प्रबल होकर, अभ्यास बनकर स्वभावका अङ्ग बन जाय वह वासना कहलाती है।

तीन एषणाएँ

पीछे बताया जा चुका है कि भूख, नींद, डर और मैथुनकी शारीरिक उत्प्रेरणाएँ तो सब पशुओंमें समान होती हैं किन्तु मनुष्यमें उनकी अपेक्षा धर्म अर्थात् सामाजिक भावना (दूसरोंको सुख पहुँचाना, दुःख न पहुँचाना) या सामाजिक विवेक अधिक होता है। यहाँके आचार्योंने यह भी बताया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपने जन्मके साथ तीन एषणाएँ (इच्छाएँ) लेकर आता है—१, पुत्रैषणा या पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा (जिसे अब मिथुनैषणा या जोड़ा ढूँढनेकी इच्छा कह सकते हैं); २, वित्तैषणा या धन-सम्पत्तिकी इच्छा; और ३, लोकैषणा या यशकी इच्छा।' विलियम आइ०. टौमसने ऊपर दी हुई चार मूल मनोवृत्तियाँ बतलाते हुए कहा है कि 'प्रतिक्रिया करने और प्रशंसित होनेकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये ही हमें सामाजिक तथा काम-विषयक (सैक्सुअल) सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है।' किन्तु सच पूछिए तो उसकी चारों मूल मनोवृत्तियाँ लोकैषणाके ही अन्तर्गत आ जाती हैं। वित्तैषणाका उसने कहीं नामतक नहीं लिया है और सुरक्षाकी इच्छाके अन्तर्गत ही स्त्री या पुरुषके

रुचि : किसी वस्तु या व्यक्तिके प्रति जो राग या विरागकी वृत्ति बनती है उसे रुचि कहते हैं।

व्यसन : किसी कार्यके प्रति जो अपरिवर्त्तनीय प्रबल रुचि बन जाती है उसे व्यसन कहते हैं।

सम्पर्क या पुत्रैषणाको भी डाल दिया है। अतः इसकी अपेक्षा तो भारतकी तीन एषणाओंवाला सिद्धान्त ही अधिक युक्तिसङ्गत है।

लौरेन्स ऐफ़० शेफरने मनुष्योंकी मनोवृत्तियों (मोटिव्ज़) की सूचीमें १. जीविका-वृत्ति (सब्सिस्टैन्स), २ स्वामित्व (मास्टरी), ३. सामाजिक समर्थन (सोशल एप्रूवल), ४. दूसरोंके साथ निर्वाह (कन्फ़ौर्मिटी), ५. काम (सेक्स) और ६. मिश्रित (मिक्स्ड मोटिव्ज़) नामक छह मनोवृत्तियाँ गिनाई हैं। टौमसके समान ही शेफ़र भी यह बात निश्चित रूपसे बतानेमें असमर्थ है कि सयानोंकी अत्यन्त जटिल मनोवृत्तियोंपर शारीरिक स्फूर्जोंका क्या प्रभाव पड़ता है। सुरक्षा और कामकी मनोवृत्ति तो पूर्णतः व्यक्तिगत शारीरिक कारणोंपर अवलम्बित है किन्तु अन्य मनोवृत्तियोंके लिये सामाजिक स्थितियाँ ही कारण होती हैं। किस व्यक्तिके किस कार्यको कौनसी मनोवृत्ति कितनी मात्रामें प्रेरित करती है यह जाननेके लिये भी लोगोंने साधन सुझाए हैं। यह तो स्पष्ट है कि वार्डनने चूहोंके स्फूर्जका परीक्षण करनेके लिये जो बिजलीके धक्केवाला बक्स बनवाया है वह मनुष्योंके लिये काम नहीं आ सकता। अतः डेनियल स्टार्चने ७४ पुरुषों और स्त्रियोंसे यह पूछा कि आप लोग प्रतिदिन जितने काम करते हैं उन्हें कौन-कौनसी मनोवृत्ति कितनी-कितनी मात्रामें प्रेरित करती हैं। उन सबके उत्तरोंसे प्रतीत हुआ कि उनमें निम्निलखित मनोवृत्तियाँ

तीव्रतम हैं—१. भूख (हङ्गर), २. बच्चेका मोह (लव ऑफ़ ऑफ़्स्प्रिङ्ग), ३. स्वास्थ्य (हेल्थ), ४. प्रेम या काम (सेक्स ऐट्रेक्शन), ५. महत्त्वाकांक्षा (एम्बिशन), ६. आनन्द या मनोविनोद (प्लेज़र), ७. शारीरिक सुख (बौडिली कम्फ़र्ट), ८. सम्पत्ति (पज़ेस्शन) और ६. दूसरोंके द्वारा अपने कार्योंकी प्रशंसा (एप्रूवल बाइ अदर्स)। इस सम्बन्धमें दूसरोंसे इसीलिये पूछा गया था कि स्वयं अपनी मनोवृत्तियोंका मूल्याङ्कन करनेसे भूलकी सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

मानवीय क्रियासत्त्वों (मोटीवेशन) में परस्पर कितनी शक्ति है इसका अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण खोजते हुए एडवर्ड एल्० थौर्नडाइकने परीक्षण किया कि अमरीकावासी अपने कपड़े, भोजन, जीवनबीमा और मकान आदिपर वार्षिक कितना व्यय करते हैं। कई निष्पक्ष निर्णायकोंने यह भी अनुमान लगाया कि 'विभिन्न प्रकारके व्यय हमारी कौन-कौनसी इच्छाएँ तृप्त करते हैं।' परिणाम-स्वरूप चौबीस इच्छाओंमेंसे निम्नलिखित सबसे अधिक तीव्र सिद्ध हुईं—१. भूख, २. सुरक्षा, ३. सर्दी-गर्मी-वर्षा आदिसे बचाव, ४. दूसरोंके मुँहसे अपनी प्रशंसा और ५. दूसरोंका कल्याण (वेल्फ़ेयर ऑफ़ अदर्स)। यह अन्तिम क्रियासत्व इसमें नया निकल आया। मानस-शास्त्रियोंने मनोवृत्तियोंकी जो सूचियाँ बनाई हैं वे आपसमें मिलती ही नहीं हैं और उनका परस्पर मिलना तथा उनके तुलनात्मक प्रभावका ठीक-ठीक निर्धारण करना सम्भव भी नहीं है। हाँ, कुछ

क्रियासत्त्व ऐसे अवश्य हैं जो अधिकांश सूचियोंमें सम्मिलित हैं। ऐलबर्ट टी० पौफ़ेनबर्गरने इन सब सूचियोंकी कई प्रकारसे परीक्षा करके बताया कि वासनाओंकी निम्नाङ्कित सूची अधिकांश आचार्योंको मान्य हो सकती है—१. इन्द्रियात्मक उत्तेजन (सेन्सरी स्टिमुलेशन) जैसे—दृष्टि, शब्द, स्पर्श आदि। २. नई खोज और उसका प्रयोग (ऐक्स्प्लोरेशन ऐन्ड मैनिपुलेशन) ३. समर्थन (ऐप्रूवल); ४. आत्म-महत्ता (सेल्फ़ एसर्शन) या शासन (डौमिनेशन); ५. स्नेहका आदान-प्रदान; ६. सुख (कम्फ़र्ट); (जिसमें सुरक्षा और बचाव सम्मिलित है); और ७. अपने वर्गके लोगोंसे सम्पर्क। यदि भारतवासियोंकी मनोवृत्तियोंका परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि आजके इस युगमें भी जब चारों ओर 'रोटी-रोटी'की पुकार मच रही है तब भी हमारे यहाँवालोंकी व्यापक और प्रधान मनोवृत्ति 'दूसरोंका कल्याण' ही निकलेगी जो हमने अपनी उदात्त संस्कृतिसे सीखा है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्ति-नाशनम्॥

[न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग चाहिए और न मुक्ति चाहिए। मैं तो यही चाहता हूँ कि मैं सदा सब प्राणियोंका दुःख दूर करता रहूँ।]

६

अनुवर्त्तन, विभावन, सहभावन

पीछे मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) की व्याख्यामें स्पष्ट कर दिया गया है कि मनुष्यमें मूलवृत्ति नामक कोई वस्तु नहीं है। अभी पिछले वर्ष भेड़िएकी माँदसे लाया हुआ जो रामू नामकी मानव-बालक लखनऊके बलरामपुर अस्पतालमें रक्खा गया है उसमें भोजन न मिलनेपर भोजनकी छटपटाहट तो होती है किन्तु पैरोंपर चलने, हँसने, लजाने, मिलकर रहने आदिकी कोई वृत्ति उसमें नहीं हैं। अतः यदि मनुष्यका मूल रूप और उसकी मूल प्रकृतिका परिचय प्राप्त करना हो तो ऐसे ही मनुष्योंका अध्ययन करना चाहिए जिनका सम्पर्क जन्मकालसे ही समाजसे न रहा हो। रामू इस बातका प्रमाण है कि मनुष्य जो कुछ करता है वह उसी प्रकार सीखकर करता है जैसे कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, हाथी, घोड़े, कबूतर और चीते आदि मनुष्यके सिखाए हुए व्यवहार सीखकर हानि-लाभ, उचित-अनुचितका विचार करके काम करते हैं। सच पूछिए तो भाषाकी उन्नतिके कारण ही मनुष्य अन्य जीवोंसे बढ़ गया यद्यपि भाषाकी वृत्ति भी उसमें मूल-रूपसे नहीं है। यदि भाषा निकाल दी जाय तो उसमें तथा अन्य जीवोंमें कोई अन्तर न रहे। इसीलिये

वूंड्टने प्राचीन लोक-भाषाको ही सामाजिक मानस-शास्त्रके अध्ययनका आधार बनवाया था। अतः यह सिद्ध है कि मनुष्यकी मूलवृत्तिका जो आडम्बर खड़ा किया है वह सब शुद्ध सामाजिक संस्कार है।

मूलवृत्तिके सिद्धान्तका इतना विरोध होते हुए भी कुछ लोग 'समाज' या 'समूह'में एक सामाजिक या सामूहिक मूलवृत्ति (सोशल इन्स्टिन्क्ट) या उद्वेग (इम्पल्स) की राग अलाप रहे हैं। इनमेंसे तार्दे, लेबों, आदिने तो अनुवर्त्तन (इमिटेशन), विभावन (सजेस्शन) और सहभावन (सिम्पैथी) आदि मूलवृत्याभासों (जूडो-इन्स्टिन्क्ट्स) को ही सामाजिक जीवनका कारण माना है। डा० मैकडुगलने माना है कि 'आत्म-महत्ता (सैल्फ़ ऐसर्शन), आत्मतुच्छता (सैल्फ़ एबेसमेन्ट) तथा वात्सल्य-भावना (टेन्डर इमोशन) ही आगे चलकर स्वयं जीवित रहने और परहितका व्यवहार करने (आल्ट्रुइज़्म) आदि उद्वेगोंके रूपमें जो मौलिक मूल-वृत्तियाँ विद्यमान हैं उन्हींके पारस्परिक समन्वय (इन्टरप्ले) से ही सामाजिक जीवनका उन्मेष होता है।' डा० ट्रौटर आदि कुछ लेखकोंने सङ्घ-वृत्ति (ग्रिगेरियसनैस्) जैसी किसी विशिष्ट मूलवृत्तिको ही सामाजिक जीवनका कारण मान लिया है। अतः इसका स्पष्टीकरण भलीभाँति हो जाना चाहिए।

सन् १८७२ में सर्वप्रथम बेजहौटने अपने 'भौतिक विज्ञान और राजनीति' (फ़िज़िक्स ऐन्ड पौलिटिक्स) में बताया था

कि 'आदिम समाजका रूप-निर्माण अनुवर्त्तन (इमिटेशन) से ही हुआ और वही आज भी समाज-निर्माणका मूल आधार बना हुआ है क्योंकि पहनने-ओढ़ने, साहित्यिक शैलियोंमें लिखने, धर्म, राजनीति आदिमें जो चलन (फ़ैशन) चल निकलता है उसका कारण यही है कि जो ई बात लोगोंको अच्छी जँचने लगती है उसीका लोग अनुकरण करने लगते हैं और फिर वही आगे चलकर समाजका संस्कार बन जाती है। यह अनुवर्त्तन सदा अनचाहे (इन्वौलन्टरी) और अनजाने (अन्कौन्शस) होता और इतना प्रबल होता है कि जो व्यक्ति ठीक-ठीक अनुकरण नहीं कर पाता उसे इस बातकी आत्मग्लानि होने लगती है कि समाजके अनुरूप न चल पा सकनेके कारण कहीं लोग मेरी हँसी न उड़ावें।' बेजहौटने इस अनुवर्त्तनकी प्रकृतिका तो कोई विवरण नहीं दिया किन्तु ऊपर दिए हुए परिचयसे प्रकट है कि वह 'विभावन' को भी 'अनुवर्त्तन' के अन्तर्गत ही मानता था। पर वह एकमात्र अनुवर्त्तनको ही समाजका मूल कारण नहीं मानता। उसका कथन है कि 'अनुवर्त्तन तो वह रक्षणशील (कञ्ज़रवेटिव) शक्ति है जो हमें ढली-ढलाई (स्टीरियोटाइप्ड) रीति-नीति (कस्टम) स्वीकार करनेके लिये प्रेरणा देती रहती है। इसके अतिरिक्त विचार-विमर्श (डिस्कशन) नामकी एक और वृत्ति होती है जो हमें उन्नतिकी ओर अग्रसर करती है। इस विचार-विमर्शसे ही मौलिकता, नवीनता, अन्य बौद्धिक प्रवृत्तियों, सहिष्णुता और स्वतन्त्र चिन्तनको प्रोत्साहन मिलता है।'

इसके पश्चात् तार्देने सन् १८६६ में अपने 'अनुवर्त्तन-सिद्धान्त' (लौ द ला इमितेशन) में स्वतन्त्र रूपसे यह प्रतिपादित किया कि 'अनुवर्त्तन ही सामाजिक जीवनका मूल सिद्धान्त है। किसी भी समूहके सदस्योंमें जो पारस्परिक मानस-क्रिया होती है उसीसे सामाजिक भावना जन्म लेती और पल्लवित होती है। इस पारस्परिक मानस-क्रिया (मेन्टल इन्टर-ऐक्शन) के तीन रूप होते हैं—१. आवृत्ति या दुहरान (रिपिटिशन), २. विरोध (अपोज़िशन) और ३. स्वीकरण या अपनाना (ऐडैप्टेशन)। इनमेंसे आवृत्तिके तीन रूप होते हैं—क. भौतिक रूप : लहरें लेना (अन्डुलेशन), जैसे वायुमें ध्वनिकी लहरें गूँजती हुई लहराती चलती हैं, ख. जीव-शास्त्रीय रूप : कुल-परम्परा (हैरिडिटी), जैसे जीव एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें अपनी आवृत्ति करता अर्थात् पुत्र-पौत्रके रूपमें अपनेको ही दुहराता चलता है; और ग. सामाजिक रूप : अनुवर्त्तन (इमिटेशन), जिसपर समाज खड़ा है । इसी प्रकार 'विरोध' (अपोज़िशन) के भी भौतिक, जीव-शास्त्रीय (बायोलौजिकल) तथा सामाजिक तीन रूप होते हैं, जिनमेंसे सामाजिकके अन्तर्गत युद्ध, प्रतिद्वन्द्विता (कौम्पिटिशन) और विचार-विमर्श या शास्त्रार्थ (डिस्कशन) आ जाते हैं। आवृत्ति, विरोध और स्वीकरणकी क्रियाओंका यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। इसी अनुवर्त्तनात्मक आवृत्ति (इमिटेटिव रिपिटिशन) के द्वारा सामाजिक मनमेल (इन्वेन्शन) अर्थात् समाजके साथ समन्वय

(सोशल ऐडेप्टेशन) का मूल कार्य नये-नये ढङ्गसे फैलता, दृढ़ होता और अन्य नई या पुरानी समन्वय-क्रियाकी अनुवर्त्तन-शील वृत्तियोंसे अपनी अनुवर्त्तनशील शक्ति मिलाकर या तो नये प्रकारके सङ्घर्ष उत्पन्न कर देती है या और भी ऐसी नई जटिल समन्वय-क्रियाओंको जन्म देती हैं जो स्वयं अनुवर्त्तनशील होकर यह क्रम चलाए रखती हैं। इन तीनोंमेंसे आवृत्ति और स्वीकरण तो विरोधको पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं और विरोधका काम केवल यही रह जाता है वह विरोधी शक्तियोंमें ऐसा सङ्घर्ष उत्पन्न कर दे कि सामाजिक समन्वय करनेवाली प्रतिभा जन्म लेती चले।' अतः समाजमें जितनी कुछ क्रियाएँ दिखाई पड़ती हैं उन सबका आधार अनुवर्त्तन (एक प्रकारकी आवृत्ति) और समन्वय (स्वीकरण) है अर्थात् समाजका प्रधान लक्षण अनुवर्त्तन ही है जो व्यक्तिगत समन्वय-विचार (इन्वेन्शन) को प्रोत्साहन देता रहता है। ये नये विचार ही वास्तवमें प्रगतिके आधार हैं। समानता, स्वीकरण, सहयोग आदिके स्रोत अनुवर्त्तन ही हैं, जिनका अर्थ है दूसरेके भावों और क्रियाओंको ज्योंका त्यों स्वीकार कर लेना। इस दृष्टिसे हमारी सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया वास्तवमें समान विचारोंके उत्पादनकी क्रिया है। किन्तु जैसे-जैसे नये-नये विचार आते जाते हैं वैसे-वैसे नये-नये समन्वय-सम्बन्ध बनते जाते हैं और जिस परिमाण और वेगसे हम विभिन्न विचारोंमें नया-नया सामञ्जस्य ढूँढने और उन विचारोंकी नई-नई पारस्परिक समानता ढूँढ निकालनेकी शक्तिका उपयोग

करेंगे उसी परिमाण और वेगसे नये विचार उत्पन्न हो जायँगे।

तार्देका सम्भवतः यह विचार है कि 'प्रत्येक जातिकी योग्यताका क्षेत्र बँधा हुआ है अर्थात् यदि वहाँके लोगोंमें कोई नया समन्वय उत्पन्न करनेका सामर्थ्य नहीं होगा तब नया समन्वय उनमें आवेगा ही नहीं। वस्तुतः नये प्रकारके सामाजिक समन्वयोंको जन्म देनेके लिये कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं जैसे जनसंख्याकी अधिकता। जनसंख्या जितनी ही अधिक होगी उतने ही ऊँचे विचारके और उच्च श्रेणीके लोग होंगे।' तार्देका मत है कि 'सामाजिक सफलता अर्थात् नये लोगों-द्वारा विचारका अनुवर्त्तन दो प्रकारके सामाजिक कारणोंपर अवलम्बित है—तर्कसङ्गत (लौजिकल) और तर्कातीत (एक्स्ट्रा लौजिकल)। तर्कसिद्ध अस्वीकृति (लौजिकल डिस्कार्ड) का अर्थ यह है कि जब प्रचलित धारणाओं और रूढियोंसे विरुद्ध कोई नया विचार लाया जाता है तो उसे निश्चय ही समाज अस्वीकृत करता है। तर्कातीत कारण भी तीन प्रकारके होते हैं—१. अनुवर्त्तन भीतरसे बाहरको चलता है, जैसे सोलहवीं शताब्दिमें स्पेनसे फ़ान्समें फ़ैशन आए, क्योंकि फ़ान्सपर पहलेसे ही स्पेनी साहित्य लदा हुआ था। इसके अतिरिक्त रीति, प्रणाली, नीति आदिकी अपेक्षा विश्वास और सिद्धान्त अधिक शीघ्रतापूर्वक ग्रहण कर लिए जाते हैं।

२. नये विचारके प्रवर्त्तककी महत्ता भी अनुवर्त्तनपर बड़ा प्रभाव डालती है अर्थात् समाजमें जो लोग जितने अधिक

प्रसिद्ध या प्रभावशाली होते हैं उनका अनुकरण निम्न वर्गके लोग उतने ही वेगसे करने लगते हैं।

३. कुछ समाजोंमें प्राचीन रूढियोंका बड़ा मान होता है। वहाँ किसी रूढिका पालन ही इसीलिये होता है कि वह रूढि है किन्तु आगे चलकर ऐसा भी समय आ सकता है कि जो बात नई हो या बाहरसे आई हो उसीका अधिक सम्मान होने लगे। यों भी जब कोई नई बात पुरानी हो जाती है तो वही रूढि बन जाती है और इस प्रकार नये चलन और रूढिका परस्पर रूप-विनिमय होता ही रहता है।'

तार्देके इस सिद्धान्तका व्यापक सम्मान हुआ। रौस, सिघेली, लेबों और सिडिसने इस सिद्धान्तके अनुसार बहुतसे प्रयोग किए। सिडिसने तो यहाँतक कह दिया कि 'विभावनीयता ही समूहको परस्पर जोड़नेवाला 'सीमेन्ट' है, समाजका आत्मा है। मनुष्य सामाजिक प्राणी तो अवश्य है किन्तु वह इसीलिये सामाजिक है कि वह भावक (सजेस्टिबिल) अर्थात् विभावन ग्रहण करनेकी वृत्तिसे सम्पन्न है।' आजकल अधिकांश लोग मानते हैं कि 'इन सिद्धान्तोंमें कुछ तथ्य तो है किन्तु इनकी मानस-शास्त्रीय पद्धति दोषपूर्ण है।' स्वयं तार्देने ही 'अनुवर्त्तन' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया है अतः अनुवर्त्तनका सम्बन्ध विभावन और सहभावनसे स्पष्ट कर देना चाहिए। कुछ मानसशास्त्रियोंने विभावन (सजेस्शन), सहभावन (सिम्पैथी) और अनुवर्त्तन (इमिटेशन) तीनोंको एक ही

क्रियाका प्रेरक, प्रतीत्यात्मक और क्रियात्मक पक्ष माना है। ग्राहम वालसने भी कहा है कि 'इन विभिन्न क्रियाओंके लिये प्रायः लोग एकसे ही उदाहरण दिया करते हैं कि उपद्रव होनेपर डरकर भाग खड़े होनेकी क्रिया जैसे सहभावनमें होती है वैसी ही अनुवर्त्तनमें भी, क्योंकि उपद्रव होनेपर उपर्युक्त तीनों ही अवस्थाएँ आ जाती हैं : सङ्कटका विभावन भी, भयके आवेगका सहभावन भी और दूसरोंकी क्रियाओंका अनुवर्त्तन भी।' अतः इन तीनोंका स्पष्ट रूप समझ लेना चाहिए।

अनुवर्त्तन (इमिटेशन)

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

[श्रेष्ठ लोग जैसा-जैसा करते चलते हैं वैसे ही वैसे अन्य लोग भी आचरण करते चलते हैं। वे जिस आचरणको प्रमाण अर्थात् ठीक बता देते हैं उसे ही लोग ठीक मान लेते हैं।]

साधारणतः अनुवर्त्तन या अनुकरण (इमिटेशन) शब्द का अर्थ किसी नेताका अनुगमन करनेसे लेकर किसी चित्रकी प्रतिकृति बनाते-तक अनेक अर्थोंमें आता है किन्तु गार्डनर और लुई मर्फी तथा थियोडोर न्यूकूम्बने अपने 'प्रयोगात्मक सामाजिक मानसशास्त्र' (ऐक्सपैरिमेन्टल सोशल साइकोलौजी) नामक विस्तृत ग्रन्थमें तीन प्रकारके अनुवर्त्तन बताए हैं—'१. अभ्यस्त

प्रतिक्रियाके ढङ्गका (कन्डीशन्ड रेस्पौन्स टाइप), जहाँ एक ही प्रतिक्रिया उसी प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ कराने लगती है जैसे कोई बच्चा अपने ही स्वरकी ध्वनिसे प्रेरित होकर उसी ध्वनिको बार-बार दुहराता है—'बा-बा-बा-बा-बा-बा-बा' आदि या जैसे सनकी लोग, सुने हुए शब्दों और अक्षरोंको यों ही अकारण दुहराते रहते हैं। २. 'प्रयास और असफलता' (ट्रायल ऐन्ड ऐरर) -द्वारा अनुवर्त्तन; अर्थात् बहुत-सी असंम्बद्ध क्रियाओंके द्वारा भी कोई जीव दूसरे जीवोंके समान आचरण करना सीख जाता है। इस सिद्धान्तवालोंका विश्वास है कि इस प्रयास और असफलताका प्रयोग किए बिना कोई भी जानवर भली-भाँति अनुवर्त्तन (इमिटेशन) नहीं कर सकता। ३. जान-बूझकर, समझ-बूझकर अनुवर्त्तन करना जैसे मनुष्य करते हैं।'

आजकलके सामाजिक मानसशास्त्री इन प्रारम्भिक मतोंको नहीं मानते। तार्देका मत है कि 'अधिकांश सामाजिक व्यवहार उस प्रक्रिया या शक्तिके प्रयोगसे होता है जिसे अनुवर्त्तन कहते हैं। लोगोंके नित्य व्यवहारमें जो बहुत-सी समानता देखी जाती है वह सदा अनुवर्त्तनसे ही नहीं होती, वह अनेक कारणोंसे जैसे अनायास या घुणाक्षर-न्यायसे भी हो जाती है।' तार्देने अनुवर्त्तनको 'अनजाने अपनाई हुई क्रिया' माना है किन्तु कुछ अन्य लेखकोंने उसे जन्मजात वृत्ति (इन्नेट टेन्डेन्सी) माना है। इन सब विचारोंका विश्लेषण किया जाय तो निष्कर्ष निकलेगा कि—

१. कुछ लोग उस जीव-जातीय (बायोलौजिकल) अनुवर्त्तनको ही सच्चा अनुवर्त्तन मानते हैं जिसमें एक जीव अपनी जातिके अन्य जीवोंके मूलवृत्त्यात्मक व्यवहारोंका अनजाने अनुकरण करने लगता है। मैकडुगलने कहा है कि 'जब कोई जानवर कोई असाधारण उद्दीपन (स्टिमुलस) उपस्थित होनेपर कोई व्यवहार कर बैठता है तब उसके साथियोंमें भी तत्काल उसी प्रकारका व्यवहार करनेकी प्रेरणा जाग उठती है।' पीछे 'मूलवृत्ति'के विवरणमें इसका परिचय देकर दिखाया जा चुका है कि मैकडुगलका यह सिद्धान्त भ्रामक है। थौर्नडाइकने भी इस सिद्धान्तका खण्डन किया है। वुडवर्थने भी कहा है कि 'ऐसी विशेष परिस्थितियोंमें जो क्रियाएँ अनजाने किए हुए अनुवर्त्तनके समान प्रतीत होती हैं वे सचमुच वैसी होती नहीं हैं, क्योंकि फ़ुटबौल खेलनेवाले लोगोंके पैर तो उस समय चलते दिखाई पड़ते हैं जब कि फ़ुलबैक जान-बूझकर गेंदको लात लगा रहा हो किन्तु देखनेवालोंके पैर कभी-कभी पहले ही चलने लगते हैं। तब अनुवर्त्तनका सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है?'

२. हम लोगोंमें कभी-कभी दूसरोंके समान बननेकी प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि 'हम भी अमुकके समान ही दिखाई दें।' यह वृत्ति बच्चोंमें अधिक होती है और किसी न किसी रूपमें जीवन-भर चलती रहती है। ऐसे अनुवर्त्तन अनजानें, अपने-आप या मूलवृत्त्यात्मक नहीं होते क्योंकि अनुभव और बुद्धि पग-

पगपर इन अनुवर्त्तनोंको सञ्चालित करती चलती है। चलन (फ़ैशन) और रीति (कस्टम) के फैलानेमें यह वृत्ति अधिक काम करती है।

३. कभी-कभी जान-बूझकर अर्थात् विचारयुक्त अनुवर्त्तन भी होता है जैसे जापानियोंने सुविधाजनक समझकर योरोपीय वेश-भूषा अपना ली। तार्देने जो बहुतसे उदाहरण दिए हैं वे इसी वर्गके हैं।

ऐलिस फ्रीमैनका मत है कि 'अनुवर्त्तन अन्धाधुन्ध नहीं होता। हम केवल उन्हीं कार्योंका अनुवर्त्तन करते हैं जो हमारे कामके होते हैं या हमारी इच्छाएँ पूरी करते हैं।' कन्सास विश्वविद्यालयके जूनियस् एफ़० ब्राउनका कथन है कि 'जब कोई बालिका प्रसिद्ध सिनेमा-अभिनेत्रीके समान अपने बाल सँवारती है तब वह अनुवर्त्तनके कारण ही नहीं वरन् इस विश्वासके साथ सँवारती है कि यह नये प्रकारका जूड़ा बाँधकर मैं उस अभिनेत्रीके समान या जिस नायिकाका वह अभिनय करती है उसके समान दिखाई देने लगूँगी।'

अनजाने अनुवर्त्तन

दूसरी ओर, एक विचित्र प्रयोग-द्वारा यह भी सिद्ध हुआ है कि अनजाने या अचेतन रूपसे ही लोग कैसे अनुवर्त्तन कर बैठते हैं। डेनियल स्टार्चने कुछ लोगोंको कुछ लिखावटें देकर कहा कि इनकी प्रतिलिपि कर डालो। उनमेंसे एकने तो टाइप करके प्रतिलिपि दी किन्तु शेष तीनकी प्रतिलिपियाँ विभिन्न प्रकारकी

लिखावटोंमें मिलीं। यद्यपि उनसे कहा तो यही गया था कि आप लोग इसकी ठीक-ठीक प्रतिलिपि कर डालिए, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिने दी हुई लिखावटके अनुसार ही अक्षरोंकी ढाल और चौड़ाई या केवल ढाल या केवल चौड़ाईके अनुसार प्रतिलिपि की। वास्तवमें लिखावटमें यह अनुवर्त्तन केवल विभावन (सजेस्शन) के ही कारण हुआ।

विभावन (सजेस्शन)

सम्मोहन (हिप्नोसिस अर्थात् किसीको अपने प्रभावसे मूर्च्छित करके उससे जो चाहे काम लेना) के मानस-शास्त्रीय सिद्धान्तका सहारा लेकर तार्दे, लेबों तथा अन्य प्रारम्भिक सामाजिक मानस-शास्त्रियोंने मुख्यतः विभावन या सजेस्शनको ही सामाजिक सम्बन्धका आधार माना है किन्तु इस शब्दकी ठीक-ठीक व्याख्या न कर पानेके कारण उन्होंने विभावन (सजेस्शन) और अनुवर्त्तन (इमिटेशन) शब्दोंमें भ्रम उत्पन्न कर दिया है। अनुवर्त्तनका अर्थ है 'किसीको हँसते, बोलते, लिखते, पढ़ते, चलते या कार्य करते देखकर ठीक वैसा ही आचरण करने लगना।' किन्तु विभावनका अर्थ है 'किसी व्यक्तिको देखकर उसकी विद्या, पाण्डित्य, गुण, शील, अनुभव, अवस्था, व्यक्तित्व, उच्चकुल, धन, पद आदिके कारण उसके विचार, धारणा, विश्वास आदिको अनजाने अर्थात् बिना उन विचारोंकी श्रेष्ठताका परीक्षण किए ही उसे अपना लेना।' फ्लौयड औलपोर्टने विभावन (सजेस्शन) शब्दका

अर्थ बताया है—'बिना विचारे ठीक मानकर अपना लेना (अनरीज़न्ड ऐक्सेप्टेन्स) अर्थात् बिना पूर्वापर या अच्छा-बुरा विचारे या बिना किसी बौद्धिक प्रक्रियाके ही किसीकी भावना या विचारको ठीक मानकर उससे भावित हो जाना ही विभावन (सजेस्शन) कहलाता है अर्थात् किसीके विचारको सुनकर स्वतः उसे मान्य समझने लगना अर्थात् विशेष रूपसे भावित हो जाना, उसीमें रँग जाना ही विभावन (सजेस्शन) कहलाता है।'

विभावन कैसे होता है ?

विभावन शब्दका प्रयोग आजकल विचारों और भावनाओंके अनुवर्त्तनके लिये किया जाता है। यद्यपि 'विभावन' शब्दकी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं हुई है फिर भी कुछ लोगोंने तो परिभाषाएँ दी ही हैं। मैकडुगलने कहा है—'विभावन वह भाव-संक्रमण (दूसरोंमें भाव भरने) की क्रिया है जिसमें कोई व्यक्ति उस भाव या विचारको ज्योंका त्यों विश्वासके साथ अपना ले और यह न बता पावे कि मैंने कैसे और क्यों उस भाव या विचारको अपनाया'। प्रायः लोग मानने लगे हैं कि विभावन-शीलता केवल चुपचाप स्वीकरण मात्र नहीं है वरन् उसमें कुछ मूल-वृत्त्यात्मक प्रवृत्ति अर्थात् कुछ ऐसे तीव्र भावोंका क्रम जाग उठता है जिससे कि सम्पूर्ण विरोधी विचार समाप्त हो जाते हैं और वह हमारी चेतनाधाराको उन उत्तेजित किए हुए विचारोंकी ओर प्रवृत्त कर देती है। अर्थात् यह विभावन-

शीलता तब आती है जब कोई मूलवृत्त्यात्मक या भावावेगात्मक प्रणाली उद्बुद्ध होती है और सब प्रकारके विरोधी विचार समाप्त हो जाते हैं। अतः विभावनशीलता भी ऐसी मूलवृत्ति है जो अनेक उद्वेगों या भावावेगोंकी क्रियाओंसे जन्म लेती है।' मैकडुगलका मत है कि 'आत्ममहत्ता (सैल्फ़एसर्शन) और दैन्य (सैल्फ़एवेसमेंट) की मूलवृत्तियाँ विभावनमें काम करती हैं।' डा० ट्रौटरने संघकी मूलवृत्तिको ही विभावनका आधार बताया है। कुछ लोगोंने कामकी मूलवृत्तिको ही इसका आधार बताया है किन्तु गिन्सबर्गका विचार है कि 'विभावनमें एक-दो नहीं वरन् बहुत-सी क्रियात्मक तथा निर्णयात्मक शक्तियाँ काम करती हैं।'

इस विभावनके द्वारा कुछ ऐसी भी धारणाएँ बन जाती हैं जिनका बदलना अत्यन्त आवश्यक है। ऐल्फ्रेड बिनेने एक प्रयोग-द्वारा इसे प्रमाणित भी किया है। उसने एक विद्यालयके कुछ बच्चोंको कुछ रेखाएँ क्रमशः एक-एक करके दिखलाईं और उनसे कहा कि 'अनुमानसे इनकी लम्बाई बतलाओ।' इन रेखाओंमेंसे प्रथम पाँच रेखाएँ क्रमशः एकसे एक बड़ी दिखाई गईं। उसके पश्चात् छठीं रेखासे छत्तीसवीं रेखातक सब समान दिखाई गईं। पर प्रथम पाँच रेखाओंको क्रमशः एकसे एक बड़ी देखकर बालकोंके मनमें यह संस्कार बैठ गया कि सभी रेखाएँ क्रमशः एक दूसरेसे बड़ी हैं। इससे उनके मनमें यह दोषपूर्ण विभावन (सजेस्शन) हुआ कि सभी रेखाएँ एक दूसरीसे बड़ी होंगी, अतः सभी बच्चोंने यही कह दिया कि 'ये सब

क्रमशः एक दूसरीसे बड़ी हैं।' इनमेंसे कुछ बच्चोंमें यह विभावनशीलता या विभावित होनेकी वृत्ति (सजेस्टिबिलिटी) अर्थात् दूसरोंसे प्रभावित होनेकी बान (वृत्ति) अधिक निकली। छोटे बच्चोंकी अपेक्षा बड़े बच्चोंमें यह विभावनशीलता या विभावित होनेकी वृत्ति बहुत कम निकली।

विनेने श्रद्धा-विभावन (प्रेस्टीज् सजेस्शन) पर भी प्रयोग किए। अर्थात् यदि किसी प्रसिद्ध या अधिकारी व्यक्तिके नामसे कोई बात कही जाती है तो लोग उस बातको बिना सोचे-विचारे मान लेते हैं, जैसे पिछले चुनावमें गाँधीजीके नामपर लोगोंने अपने लिये लोकमत संग्रह कर लिए। एक अध्यापकने अपने शिष्योंको पाँच सेन्टीमीटर लम्बी रेखा दिखाकर कहा कि इतनी ही लम्बी रेखा कल्पनासे खींचो। इसके पश्चात् उसने चार सेन्टीमीटर लम्बी रेखा दिखाकर कहा कि यह पहलीसे बड़ी है। अतः ६० प्रतिशत बच्चोंने दूसरी रेखाको पहली रेखासे अधिक लम्बी ही खींचा।

स्किडमोर कौलेजके अध्यक्ष हैनरी टी० मूरने दो प्रकारसे श्रद्धा-विभावनों (प्रेस्टीज् सजेस्शन) की परीक्षा ली। उसने एक सौ छात्रोंको अनेक भाषा-सम्बन्धी, नीति-सम्बन्धी और सङ्गीत-सम्बन्धी प्रश्न देकर कहा कि इनपर अपना-अपना मत दीजिए—
१. थोड़ी देर पश्चात् उसने उन छात्रोंसे कहा कि तुम्हारे समूहमेंसे अधिकांश छात्रोंने अमुक-अमुक निर्णय दिए हैं। अतः यदि तुम्हें अपने निर्णयोंमें कोई शङ्का हो तो पुनः विचार कर

लो। २. थोड़ी देर पश्चात् उसने छात्रोंको सूचित किया कि उपर्यङ्कित विषयोंके विद्वानोंकी उन-उन विषयोंपर अमुक-अमुक सम्मति है। अतः इस आधारपर तुम अपना निर्णय बदलना चाहो तो बदल सकते हो। इन दोनों सूचनाओंका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश छात्रोंकी और विद्वानोंकी सम्मति जान लेनेपर अनेक छात्रोंने अन्य विषयोंके सम्बन्धमें तो अपनी सम्मति बदल दी किन्तु सङ्गीतके सम्बन्धमें नहीं बदली। इस प्रयोगसे ज्ञात हुआ कि विभावन-शक्ति (दूसरोंके विचारोंको प्रभावित करनेकी शक्ति) जितनी सामूहिक मतमें थी उतनी ही विद्वानोंकी सम्मतिमें थी।

इसी प्रकार केलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालयके प्राध्यापक वार्नर ब्राउनने पुरुषों और स्त्रियोंकी विभावनशीलता (विभावित होनेकी वृत्ति) का तुलनात्मक अध्ययन करके देखा कि 'पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें विभावित होनेकी वृत्ति अधिक होती है। यद्यपि यह नियम व्यापक नहीं कहा जा सकता।' ब्राउनने इसी परीक्षणमें यह भी खोज निकाला कि 'जो व्यक्ति एक प्रकारके विषयसे अत्यधिक विभावित प्रतीत होते हैं वे दूसरे प्रकारके विषयसे उतने नहीं होते।' अतः यह परिणाम निकला कि 'विभावनशीलता (विभावित होनेकी वृत्ति) को हम किसीके चारित्र्य (पर्सनैलिटी) का गुण या लक्षण (कैरेक्टरिस्टिक) नहीं मान सकते।'

फ़ान्सिस एवेलिङ्ग और एच्० एल्० हार्ग्रीव्ज़ नामक दो

अँगरेज़ मानस-शास्त्रियोंने बहुत सी विभावन-परीक्षाएँ एक साथ ले डालीं। इनमेंसे कुछ तो सम्मोहन (हिप्नोसिस) के ढङ्गकी थीं; जैसे एक बच्चेसे कहा गया कि देखो तुम्हारे हाथके पुट्ठे (मसिल्स) जकड़ते जा रहे हैं और फिर थोड़ी देर पीछे यह जाँचनेके लिये उसे हाथ खोलनेको कहा गया कि उस विभावन अर्थात् कहनेका कुछ प्रभाव बालकपर हुआ या नहीं। परीक्षणके अन्य प्रकारोंमें कुछ तो बिनेकी परीक्षण-पद्धतिके अनुसार थे और कुछमें हाँ-ना कहला लेनेवाले प्रश्न (लीडिङ्ग क्वैश्चन्स) थे, जैसे तुमने वह पुस्तक उठाई थी न ? इन प्रयोगोंमें एक बड़ी विचित्र बात यह देखी गई कि बहुतसे बालकोंने इस श्रद्धा-विभावन (प्रेस्टीज् सजेस्शन) का ठीक उलटा उत्तर दिया अर्थात् प्रयोक्ताने जो कुछ विभावित किया या सुझाया उसका छात्रोंने ठीक उलटा उत्तर दिया। एवलिङ्ग और हार्ग्रीव्ज़ने इन परीक्षणोंसे परिणाम निकाला कि 'संसारके अधिकांश लोग विभावनशील (सजेस्टिबिल) होते हैं किन्तु अन्य मानस-शास्त्री इस विचारसे असहमत हैं और अभीतक भी इस विषयपर ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका कि सब लोग विभावनशील होते हैं या नहीं।

विभावनशीलताकी समस्यापर मुज़फ़्फ़र शरीफ़ने एक नया प्रयोग किया है। उसने एक पूर्ण अन्धकारमय प्रकोष्ठमें कुछ लोगोंको एक चलता हुआ प्रकाश दिखलाकर पूछा कि 'यह प्रकाश कितनी दूरपर चल रहा होगा ?' मिले हुए

उत्तरोंसे ज्ञात हुआ कि देखनेवाले लोगोंके अनुमानमें बहुत अन्तर है क्योंकि उस अँधेरेमें किसीके पास कोई ऐसा साधन ही नहीं था कि वे दूरीका ठीक-ठीक निर्णय कर पा सकते। इसका कारण शरीफ़ने यह बतलाया कि उनके पास 'परीक्षणके आधार' (फ़्रेम औफ़ रेफ़रेन्स) का अभाव था।' ऐसी परिस्थितियोंमें अन्य लोगोंकी अपेक्षा किसी सम्मानित व्यक्तिका (जैसे गुरु आदिका) निर्णय अधिक विभावित करता है। शरीफ़ने यह भी देखा कि 'सामाजिक दृष्टिसे इस विभावनके द्वारा जो भाव लोगोंके मनमें बैठ जाते हैं वे पुनः दूसरी बारके परीक्षणके समयतक भी ज्योंके त्यों बने हुए मिलते हैं।'

साहित्यिक धारणाओंपर विभावनका प्रभाव समझनेके लिये शरीफ़ने पहले यह जान लिया कि डिकेन्स, पो, स्कौट, कोनरादे और स्टीवेन्सन आदिके सम्बन्धमें श्रोताओंकी क्या अच्छी या बुरी धारणा है। तब उसने केवल स्टीवेन्सनके लेखोंके कुछ उद्धरण लेकर श्रोताओंसे झूठे ही कहा कि 'उपर्यङ्कित लेखकोंमेंसे अमुक-अमुकके लिखे हुए इन उद्धरणोंका साहित्यिक दृष्टिसे परीक्षण करो।' परिणाम यह हुआ कि विभिन्न लेखकोंके प्रति उन श्रोताओंकी जो धारणा थी उसीके अनुसार उन्होंने उन उद्धरणोंको श्रेष्ठ या बुरा बता डाला। अतः हमारे पास गुण-परीक्षणकी जितनी कसौटियाँ हैं वे अनजाने ही उसी व्यवहारको उचित और शुद्ध समझती रहती हैं जिन्हें हम स्वयं अपने मनमें पूर्णतः युक्तियुक्त समझे बैठे हैं।

स्टैनफ़ोर्ड विश्वविद्यालयके पौल आर० फ़ार्न्सवर्थ तथा एक छात्रने इस सम्बन्धमें परीक्षण करके यह परिणाम निकाला कि 'समाजमें भी हम जिन अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्तियोंसे घृणा करते हैं उनकी कही हुई बातों या वक्तव्यों का भी हम कोई महत्त्व नहीं समझते और जिन नेताओं या प्रसिद्ध व्यक्तियोंको हम अच्छा समझते हैं या उनमें श्रद्धा करते हैं उनकी सब बातोंका हम समर्थन करते और उन्हें मानते हैं।' फ़ार्न्सवर्थने परीक्षणसे देखा कि 'महाविद्यालयके जिन छात्रोंको मार्क ट्वेन, विल रोजर्स और टौमस ए० ऐडीसन अच्छे लगते थे वे इन लेखकोंके सभी विचारोंका समर्थन करते थे किन्तु जब यह कहा जाता कि ये मत ऐमी केम्पिल, मैक्फ़र्सन या विलियम रेन्डोल्फ हार्स्टके हैं तो वे ही छात्र उन विचारोंसे असहमत हो जाते थे।

इस प्रकार देखा गया कि जो लोग समाजमें विभिन्न क्षेत्रोंमें अधिक प्रसिद्धि पा चुके हैं उनके अनुगामी या उनके श्रद्धालु लोगोंपर उन मतोंका विभावन अधिक होता है। विभिन्न व्यवसायों तथा कलाओंके आचार्योंके मतोंको उनके शिष्य आँख मूँदकर मानते हैं और उनमें किसी प्रकारकी मीन-मेख सुनकर ही वे आगबबूला हो जाते हैं। अतः जीवनके सभी क्षेत्रों तथा दशाओंमें प्रायः स्वाभाविक रूपसे श्रद्धा-विभावना (प्रेस्टीज़ सजेस्शन) सदा काम करती रहती है और विभावन (सजेस्शन)-में सहायता पहुँचाती रहती है।

सहभावन (सिम्पैथी)

सहभावन या सहानुभूति शब्दका प्रयोग अनेक भ्रामक अर्थोंमें हुआ है। इसका एक अर्थ तो है 'भावनाओंकी छूत' (कन्टेजिअन औफ़ फीलिंग) अर्थात् मनुष्य जैसे समाजमें बैठता है उसीकी भावनामें रँग जाता है, जहाँ जैसे लोग हँसते-खेलते वहाँ वैसे ही हँसने-खेलने लगता। इस प्रकारका सहभावन सभी सङ्घप्रिय (ग्रिगेरिअस्) प्राणियोंमें होता है अतः मैकडुगलने इसे प्राणिसमाजोंको परस्पर सम्बद्ध करनेवाला सीमेन्ट बताया है। मैकडुगलने तो एक सहभावानुष्ठानका नियम (लौ औफ़ दि सिम्पैथटिक इन्डक्शन औफ़ दि इमोशन्स) ही बना दिया है कि 'एक मनुष्य जैसा भावावेग प्रकट करता है उसकी प्रतीति होते ही दूसरेके मनमें भी वही भावावेग (इमोशन) उठ खड़ा होता है। पर यह नियम भ्रामक है क्योंकि जब हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति किसी बच्चेपर क्रोध करके उसे मार रहा है तो ऊपरके नियमके अनुसार या तो हमें मारनेवालेके भावावेगके सहभावानुष्ठानके अनुसार उस बच्चेपर क्रोध करना चाहिए या बालककी भयपूर्ण व्यथाके सहभावानुष्ठानके अनुसार पीड़ा या भयपूर्ण पीड़ाका भावावेग प्रकट करके चिल्लाना चाहिए। पर होता यह है कि उस दृश्यको देखकर हमें मारनेवालेपर क्रोध और पिटनेवाले बालकपर दया आती है। हाँ, कभी-कभी असावधान होकर किसीका व्याख्यान सुनते समय वक्ताकी किसी हास्य-भरी बातपर सबको हँसते देखकर हम भी हँस तो देते

हैं किन्तु पीछे अपने पास बैठे हुए व्यक्तिसे पूछते हैं 'कहो, क्या बात कही थी इसने ?' अथवा किसीके घर कोई करुण मृत्यु हो जानेपर वहाँकी स्त्रियोंका विलाप सुनकर श्रोताओंकी भी आँखें भर आती हैं। ऐसी एक-आध परिस्थितियोंमें तो सहभावन अवश्य होता है किन्तु यह व्यापक अवस्था नहीं है। अतः मैकडुगलका यह नियम ठीक नहीं है।

रिबोने 'भावावेगका मानसशास्त्र' (साइकोलौजी आफ़ दि इमोशन्स) नामक पुस्तकमें और मैकडुगलने अपने 'सामाजिक मानस-शास्त्र' (सोशल साइकोलौजी) में यह स्पष्ट मान भी लिया है कि 'दया, कृपा, प्यार आदिको सहभावन (सिम्पैथी) के साथ नहीं मिला देना चाहिए, क्योंकि सहभावन तो इन कोमल भावोंके बिना भी हो सकता है। यह कहा जाता है कि कुछ लोग जब हत्या या चीर-फाड़का दृश्य देखते हैं तो अपने हृदयके सहभावनसे उत्पन्न होनेवाली वेदना नहीं सह पाते हैं और इसलिये भाग खड़े होते हैं। किन्तु वास्तवमें वे वेदनाके कारण नहीं, वरन् हृदयकी दुर्बलता और भयसे भागते हैं, सहभावनसे नहीं। सहभावनका दूसरा अर्थ है, दूसरोंके लिये हमारी भावना। यह वृत्ति सहभावनसे भिन्न है, क्योंकि इस सहभावनकी क्रियामें हमें देखकर दूसरे लोग कुछ अनुभव करते हैं। इसके अन्तर्गत एक ही नहीं, वरन् कई परिसम्बद्ध भावावेगोंका समूह आ जाता है।'

अनुवर्त्तनमें मूलवृत्ति, अभ्यास और विवेक आदि सब

विभिन्न मात्राओंमें आ जाते हैं अतः केवल अनुवर्त्तनको ही सामाजिक निर्माणका एक-मात्र ही आधार मानना तो उचित नहीं है। हाँ, अनुवर्त्तन ऐसा साधन अवश्य माना जा सकता है जो सब मनुष्योंमें व्याप्त समान व्यवहारोंका प्रचार करके मानवीय एकता सम्पन्न करता है। यदि देखा जाय तो समाजमें समानता ही नहीं, विषमता भी है। अतः यद्यपि सामाजिक जीवनमें विभावन, अनुवर्त्तन तथा सहभावनका महत्त्व भी कम नहीं है किन्तु इनमेंसे किसीको भी मानसिक या समाज-निर्माणका मूल आधार मानना भूल है ये विभावन, अनुवर्त्तन तथा सहभावन आदि सभी अनेक मानसिक प्रवृत्तियोंपर निर्भर रहते हैं अतः इन्हें मूलवृत्ति मानना भी ठीक नहीं है। हम पीछे यह भी बता आए हैं कि मूलवृत्तिका कोई अस्तित्व नहीं है।

अनुवर्त्तन, विभावन, और सहभावनके सम्बन्धमें ऊपर जो यूरोपीय आचार्योंके विचार दिए गए हैं उनसे हम तनिक भी सहमत नहीं। यदि अनुवर्त्तनका व्यावहारिक दृष्टिसे परीक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि मनुष्य तीन वृत्तियोंसे अनुकरण या अनुवर्त्तन करता है — १. जब मनुष्य देखता है कि सब लोग अमुक प्रकारका जो आचरण करते हैं वह आचरण ठीक माना जाता है और उसे सामाजिक समर्थन (शोशल सैंक्सन) भी प्राप्त है तब वह उस व्यवहारको निरापद, उचित तथा हितकर जानकर ही वैसा व्यवहार करने लगता है। २. कभी-कभी

बहुत-सा अनुवर्त्तन कुतूहलवश होता है, जैसे, बालक खड़ा होकर चलना कुतूहल-वश सीखते हैं और बहुतसे कार्योंका अनुकरण यह जाननेके लिये करते हैं कि यह कैसे होता है या कैसा लगता है। ३. कभी-कभी स्पर्द्धा या ईर्ष्यासे भी हम अनुकरण या अनुवर्त्तन करते हैं जैसे किसीको तैरते देखकर उससे अच्छा तैरनेका प्रयत्न करना, हिमालयपर चढ़नेवालोंको देखकर स्वयं हिमालयपर चढ़नेका प्रयास करना। ४. कभी-कभी हम दुष्टतावश भी या नटखटपनके लिये भी अनुकरण करते हैं जैसे किसी हकलानेवालेको देखकर हकलाकर बोलना या किसी लँगड़ेको देखकर लँगड़ाने लगना। इन सब प्रकारके अनुवर्त्तनों या अनुकरणोंमें सचेतन या जान-बूझकर ही क्रिया होती है। डैनियल स्टार्चने प्रतिलिपि करनेके लिये जो लिखावटें दी थीं और प्रतिलिपि करनेवालोंने उन लिखावटोंको जो ज्योंका त्यों प्रस्तुत कर दिया उसका कारण विभावन (सजेस्शन) नहीं था वरन् उन्होंने प्रतिलिपिका आदेश प्राप्त करनेका अर्थ यही समझा कि हमें ठीक इसी प्रकार ज्योंका त्यों प्रस्तुत करना चाहिये।

जहाँतक विभावन (सजेस्शन) की बात है उसका सम्बन्ध श्रद्धासे है। जिन व्यक्तियोंके गुण, महत्त्व, पांडित्य, वीरत्व आदिके कारण हमारे हृदयमें व्यक्तिगत या रूढिगत श्रद्धा बन जाती है उन्हींसे हम विभावित या प्रभावित होते हैं अर्थात् उनके सब आचार-व्यवहार ठीक मानकर अपना लेते हैं। श्रद्धामें बुद्धिका हस्तक्षेप तनिक भी नहीं होता, इसीलिये

विचारोंको स्वीकार करनेमें कोई अड़चन नहीं होती। कभी-कभी प्रलोभन और भय भी इस विभावनमें सहायक होते हैं अर्थात् हम यह जानकर भी कुछ बात मान लेते हैं कि ऐसा माननेसे हमारा हित होगा। अतः विभावनके चार आधार हैं श्रद्धा, भय, रुचि और प्रलोभन। किन्तु अधिकांश अनुवर्त्तन हमारी व्यक्तिगत रुचिके कारण भी होता है जैसे किसी विशेष रङ्ग या रीतिके वस्त्र और आभूषण पहनना या विशेष प्रकारकी मूँछें रखना आदि।

सहभावन (सिम्पैथी) या सहानुभूति भी तीन कारणोंसे होती है। १. आयुर्वेदकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो जो दुर्बल हृदयवाले या भावुक होते हैं उनमें सहभावनकी वृत्ति अधिक होती है। ऐसे लोग भीरु होनेके कारण किसीका कष्ट देखकर इस भयकी कल्पनासे त्रस्त होकर सहभावित होते हैं कि न जाने उसकी क्या दशा हो। २. किन्तु साधारण लोग इस स्मृतिमय कल्पनाके कारण सहभावित होते हैं कि यदि यह विपत्ति हमपर आती तो हमें कितना कष्ट होता। ३. हमारे यहाँके साहित्यिक आचार्योंने साधारणीकरणकी जो मीमांसा की है वही वास्तवमें सहभावनका प्रमुख कारण है अर्थात् दूसरेके सुख-दुखको अपना तथा सबका दुख-सुख मान लेना ही इस सहभावनका मुख्य सूत्र है।

१०

विवेक और सङ्कल्प

आजकल बहुतसे मानसशास्त्री बुद्धिवाद (इन्टैलैक्चुअलिज़्म)-की धूम मचाए हुए हैं और कहते हैं कि 'हमारी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं उन सबमें हमारी बुद्धिका ही प्रमुख हाथ रहता है अर्थात् हम जितना भी कुछ काम करते हैं वह सब समझ-बूझकर, बुद्धिकी ही प्रेरणासे करते हैं।' किन्तु इस मतके विरोधियोंकी भी संख्या कम नहीं है। इन बुद्धिवाद-विरोधी दार्शनिकों और मानसशास्त्रियोंका मत है कि 'मनुष्यकी किसी भी क्रियामें उसके विवेक (रीज़न), इच्छा (डिज़ायर) और सङ्कल्प (विल्) का कोई बहुत हाथ नहीं होता अर्थात् मनुष्यकी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं वे बुद्धिके निर्णयके बिना ही, केवल मनकी सनक या झोंक अर्थात् उद्वेग (इम्पल्स) के ही कारण होती हैं। हम अपने समाजमें रहकर जो बहुतसी रीतियाँ, बहुतसे विश्वास और बहुतसी मान्यताएँ ज्योंकी त्यों ग्रहण कर

लेते हैं उसका कारण यही है कि हम समाजसे जैसी प्रेरणा पाते हैं अर्थात् समाजके लोगोंको जैसा मानते देखते हैं वैसा ही हम भी मानने लगते हैं। 'महाजनो येन गतः स पन्था' ही इसका प्रधान कारण है। इसका अर्थ यह है कि हमारे उद्वेग (इम्पल्सेज़्) और मूलवृत्तियाँ (इन्स्टिन्क्ट्स) ही हमारी अधिकांश क्रियाओंको प्रेरणा देकर सञ्चालित करती हैं, हमारा विवेक नहीं; क्योंकि विवेक (रीज़न) में कोई कार्य करनेकी प्रेरणा देनेका सामर्थ्य ही कहाँ होता है? हमारा विवेक तो हमारी मूलवृत्तियोंका दास है। हमारी मूलवृत्ति हमारे विवेकको जो कुछ कार्य सुझाती चलती है, उसीकी पूर्त्तिके लिये वह साधन ढूँढ़ता चलता है।' रिबोने तो स्पष्ट लिख दिया है कि 'हमारी सम्पूर्ण जीवन-क्रिया या चरित्रचर्या केवल मूलवृत्ति (इन्स्टिन्क्ट), प्रवृत्ति (टेन्डेन्सी), उद्वेग (इम्पल्स), इच्छा (डिज़ायर्स) और भावनाओं (फ़ीलिंग्स) का समूह-मात्र ही तो है।' ह्यूमने तो बहुत पहले ही कह दिया था कि 'विवेक तो हमारी भूख, इच्छा आदि वासनाओं या तीव्र भावनाओं (पैशन्स) के आगे हाथ जोड़े खड़ा रहनेवाला सेवक भर है। हमारी वासनाएँ हमारे विवेकको जैसा आदेश देती हैं वह आँखि मूँदकर चुपचाप वैसा ही करता चलता है, अपनी ओरसे एक पत्तातक नहीं हिलाता। यह विवेक केवल इतना ही काम करता है कि हमारे विचारों और वासनाओंको ठीक क्रमसे सजाकर उनकी परस्पर तुलना-भर कर देता है।

उसमें यह सामर्थ्य कहाँ कि वह हमें किसी क्रियाके लिये प्रेरणा या स्फूर्ति दे ?'

इन लोगोंकी कुछ-कुछ ऐसी धारणा है कि 'विवेक (रीज़न) कोई ऐसी भावात्मक शक्ति है जो किसी भी परिस्थितिके सामने आते ही झट समझ लेती है कि इसका क्या परिणाम होगा; और सङ्कल्प कोई इससे भिन्न ऐसी क्रिया है जो उद्वेगोंसे प्रेरित न होकर जीवन तथा समाजके कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों-द्वारा निश्चित रीतिके अनुसार कार्य करता है।' विवेक और सङ्कल्पकी यह व्याख्या अत्यन्त अस्पष्ट है। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि 'उद्वेग (इम्पल्सेज़) ही हमारी क्रियाओंको प्रेरणा देकर सञ्चालित करते हैं।' इन दोनों सिद्धान्तोंमेंसे एकमें तो बुद्धिको इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया है कि इन्द्रियानुभवके लिये कोई स्थान ही नहीं बचा रह गया है। दूसरे सिद्धान्तमें मनुष्यके व्यक्तित्वको कई छोटे-छोटे खण्डों (विवेक, सङ्कल्प, इच्छा आदि) में बाँटकर उसकी अपनी स्वयंचेतन (सेल्फ़ कौन्शस) सत्ता ही खटाईमें डाल दी गई है।

अपनी इन्द्रियोंके अनुभवसे हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह देखनेमें ऐसा प्रतीत होता है मानो इसमें हमारे विचार या विवेकका कोई हाथ न हो, इसीलिये इन्द्रियानुभव (सेन्स) और विचारको लोग एक दूसरेसे अलग और असम्बद्ध समझकर कहते हैं कि 'इन्द्रियाँ तो हमारे अनुभवके साधन-मात्र जुटाती

हैं। किन्तु विचार अर्थात् विवेकमें ही यह शक्ति है कि वह अपनी विचित्र शक्तिके बलपर समाजसे अनेक सिद्धान्त ग्रहण करके उन सिद्धान्तोंके अनुसार उन सभी साधनोंकी तुलना और उनका प्रयोग करता चलता है जो हमारी इन्द्रियाँ हमारे विवेकके आगे प्रस्तुत करती चलती हैं।' यदि यह मत मान भी लिया जाय तब भी यह बताना सरल नहीं है कि किसी विशेष क्रियामें विचार या विवेकका कितना हाथ है और इन्द्रियानुभवका कितना। इन्द्रियानुभव और विचारमें केवल यही भेद नहीं है कि उन दोनोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह कुछ अलग-अलग प्रकारका होता है, वरन् दोनोंमें अन्तर यही है कि दोनोंसे जो ज्ञान प्राप्त होता है उनका परिमाण अलग-अलग होता है—अर्थात् इन्द्रियानुभवसे कुछ कम ज्ञान प्राप्त होता है, विवेकसे कुछ अधिक प्राप्त होता है।

जबसे हमें ज्ञान होना प्रारम्भ होता है तभीसे इन्द्रियानुभव और विवेक दोनों साथ-साथ मिलकर काम करने लगते हैं। हम जितनी कुछ भी चेतनतापूर्ण या समझ-बूझकर क्रिया करते हैं उन सबमें हम अच्छा-बुरा, हित-अनहित आदिका भेद करते हुए सब स्थितियोंकी तुलना करते और उनका आपसका सम्बन्ध समझते-चलते हैं। अतः हमारी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो बिना विचारे या बिना विवेकके होती हो। आज संसारमें ज्ञान और विज्ञानकी जितनी भी उन्नति दिखाई दे रही है वह सब इसीलिये हुई है कि हमारी

सब क्रियाओंका विवेकके साथ पूरा गँठबन्धन रहता है। जहाँतक सिद्धान्त की बात है वे तो केवल इतना भर बताते हैं कि इन्द्रियानुभवके साधनोंका परस्पर किस प्रकार और कितना सम्बन्ध है किन्तु ज्ञानमें तो विवेक और अनुभव दोनोंका समान हाथ है और ये दोनों ज्ञान प्राप्त करनेकी क्रियामें साथ-साथ मिलकर चलते हैं। साधन और साधनोंकी व्याख्या करनेवाले सिद्धान्तको भी हम अलग नहीं कर सकते क्योंकि उन साधनोंमें विचार या विवेकके तत्त्व पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं और विवेकपूर्ण बातका यही अर्थ होता है कि वह अनुभवके समस्त साधनोंका आपसका सम्बन्ध बता देती है। 'बिना विचारके इन्द्रियानुभव अन्धा होता है और बिना इन्द्रियानुभवके विचार भी लँगड़ा होता है' अर्थात् विचार और इन्द्रियानुभव दोनों साथ-साथ काम करते हुए ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं।

सङ्कल्प

सङ्कल्पके सम्बन्धमें भी यही बात है। यदि सङ्कल्पमेंसे उद्वेगात्मक भावनाएँ (इम्पल्सिव फ़ीलिंग्स) निकाल दी जायँ तो सङ्कल्प निस्तत्त्व रह जाय। अतः, जो लोग कहते हैं कि सङ्कल्पमें उद्वेग होते ही नहीं, वे बड़ी भूल करते हैं क्योंकि यह तो ऐसा ही हुआ जैसे यह कहना कि इन्द्रियाँ कुछ और है, विचार या विवेक कुछ और। हम अनुभवसे देखते हैं कि हमारे मनमें जहाँ कोई छोटे-से-छोटा भी उद्वेग उठा

कि हमारी आत्मचेतना तत्काल उसे सँभालकर ठीक-ठाक करके उचित रूपमें ऐसे ढाल लेती है कि वह कोरा उद्वेग नहीं रह जाता। इसी प्रकार ज्ञान भी कोई संसारसे निराली क्रिया नहीं होती। वह तो ऐसी प्रवृत्तिमात्र है जो उद्वेगों और सिद्धान्तोंके सम्पर्कमें आकर उन्हें एक ओर मोड़ देती है। सच पूछिए तो हमारा ज्ञान भी केवल हमारे उद्वेगों (इम्पल्सेज़), इच्छाओं (डिज़ायर्स) और भावनाओं (फीलिंग्स) का ही मूर्त्त स्वरूप तो है।

यह मानना भी ठीक नहीं है कि हमारे चेतन व्यक्तित्वमें कुछ अपनी निराली शक्तियाँ (विवेक और संकल्प) भरी हैं। यदि यह सिद्धान्त भी मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि हमारी वासनाएँ (पैशन्स) और उद्वेग (इम्पल्सेज़) दोनों ही बाहरसे हमारे व्यक्तित्वको प्रभावित करते हैं। किन्तु वास्तवमें हमारा पूरा व्यक्तित्व ही इन वासनाओं और उद्वेगोंका समूह है। यदि हम उद्वेगोंका अलग अस्तित्व मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि वे (उद्वेग) अपना अलग अस्तित्व लेकर विवेक तथा सङ्कल्प नामकी कुछ अलग-अलग शक्तियोंके सामने डटकर खड़े हैं अर्थात् उद्वेगोंका एक अलग दल है, विवेक और सङ्कल्पका अलग। पर सत्य यह है कि हम अपने चेतन व्यक्तित्वको ऐसे किन्हीं भी विभागोंमें विभक्त नहीं कर सकते : विवेक, भाव, सङ्कल्प और उद्वेग ये सब ऐसे भिन्न-भिन्न रूप हैं जिनमें हमारा 'स्व' अपनेको व्यक्त

करता और अपना निर्वाह करता है। इस प्रकार अपनेको व्यक्त करनेमें हम जो शक्ति लगाते हैं वह हमारे पूरे 'स्व' की वह शक्ति है जो अनेक रूप भी ग्रहण कर लेती है और अपनी क्रिया (उद्वेगात्मिका या स्वतःचालित) की प्रकृतिके अनुसार अपने लिये विभिन्न धारणाएँ भी बना लेती है। किन्तु मूलतः वह होती एक ही है। यह उद्वेगात्मिका या स्वतःचालित क्रिया परस्पर-विरोधी अवश्य होती है किन्तु 'स्व' के भीतर ही होती है, उससे भिन्न होकर नहीं। हमारे जीवनमें जो अनेक विषमताएँ दिखाई पड़ती हैं उनका कारण यह नहीं है कि 'विवेक' नामक किसी भिन्न तत्त्वपर 'उद्वेग' नामक कोई भिन्न तत्त्व शासन करने लगते हैं। ये विषमताएँ वास्तवमें इसलिये होती हैं कि हमारा 'स्व' हमारे उद्वेगोंके साथ वह सामञ्जस्य नहीं बैठा सका जो हमारे 'विवेकात्मक उद्वेग'को बैठा देना चाहिए था। अतः विवेक और सङ्कल्प दोनोंको उद्वेगोंसे भिन्न नहीं समझना चाहिए वरन् उद्वेगको भी विवेक और सङ्कल्पके भीतर और उन्हींके सहारे काम करनेवाला ऐसा तत्त्व मानना चाहिए जो हमारी निर्णयात्मिका शक्ति (कोनेशनल पावर) को उन निश्चित दिशाओंमें मोड़ देती है जिनका परिणाम पहलेसे सोचा-समझा हुआ होता है।

निर्णय

आजकलके प्रायः सभी मानस-शास्त्रियोंका मत है कि जिसे हम सङ्कल्प कहते हैं वह वास्तवमें उच्च

कोटिका निर्णय (कोनेशन) मात्र है। इस निर्णयके क्षेत्रमें जितना कुछ विस्तार और विकास होता चलता है वह सबका सब ठीक वही है जो प्रतीति (कौग्निशन) के क्षेत्रमें होता है अर्थात् प्रतीति और निर्णय दोनोंका विकास साथ-साथ होता चलता है। यदि विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार इसपर विचार करें तो कह सकते हैं कि जैसे-जैसे ज्ञानका विकास होता है वैसे-वैसे और उसी क्रमसे निर्णयका भी विकास होता चलता है। जो विषय हमारी इन्द्रियों-द्वारा गोचर होते चलते हैं उनके सामने आते ही हमें उनकी प्रतीति भी हो जाती है और उसी समय हमारे उद्वेग और मूलवृत्तिका रूप भी स्पष्ट दिखाई दे जाता है अर्थात् उद्वेग और मूलवृत्तिकी भी यही प्रारम्भिक अवस्था है जिसमें प्रतीत्यात्मक तत्त्व (कौग्निटिव ऐलिमेन्ट) स्पष्ट हो जाते हैं।

इच्छा

इस प्रथम अवस्थाके पश्चात् दूसरी वह अवस्था आती है जिसे स्टाउटने 'स्वतन्त्र धारणाकी अवस्था' अर्थात् वह अवस्था माना है जिसमें हमारा मन वर्तमान अवस्थासे पीछे हटकर पिछले अनुभवोंको स्मरण करता हुआ उन अनुभवोंके आधारपर भविष्यको समझता या भविष्यके परिणामकी कल्पना करता है। इस निर्णयात्मक स्तर (कोनेटिव लेविल) पर वह उद्देश्यपूर्ण क्रियाकी अवस्था अर्थात् किसी उद्देश्यके अनुसार काम करनेकी अवस्था आ जाती है जिसे हम इच्छा (डिज़ायर) कहते हैं

और जिसे प्रो० हौबहाउसने 'विचार-सिद्ध उद्वेग' (इम्पल्स क्वालिफ़ाइड बाई एन् आइडिया) कहा है। इस विचार-सिद्ध उद्वेग या इच्छाकी स्थितिमें जो विचार आता है उस विचारमें आगे होनेवाला परिणाम पहलेसे समझा हुआ होता है। ऐसी स्थितिमें हमारी क्रियाएँ केवल तत्कालीन प्रभावोंसे ही उद्दीप्त या निर्दिष्ट नहीं होतीं वरन् वे आदर्श रूपमें प्रकट होती हैं। इससे स्पष्ट है कि इच्छा भी उद्वेग और भावनासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है वरन् इच्छा भी उसी प्रकारका एक उद्वेग है जैसा विचारों-द्वारा निर्दिष्ट और सञ्चालित कोई उद्वेग हुआ करता है।

मनोवेग

शैण्डने जिस ढङ्गसे अपना 'मनोवेगोंका सिद्धान्त' प्रस्तुत किया है उसे स्टाउट और मैकडुगल दोनोंने मान लिया है। उसका मत है कि 'उद्वेग और भावावेग एक तो स्वयं ही बड़े जटिल होते हैं, उसपर जब वे मनोवेग (सेन्टिमेन्ट) नामक और भी अधिक जटिल प्रणालीमें जा पहुँचते हैं तब वे और भी अधिक जटिल होकर उलझ जाते हैं। अतः मनोवेग (सेन्टिमेन्ट) को भावावेगोंका ऐसा समूह समझना चाहिए जो किसी वस्तुके चारों ओर इकट्ठे होकर उस वस्तुके सम्बन्धमें विभिन्न अवसरोंपर विभिन्न प्रकारके भावावेग अनुभव करनेकी जटिल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं। स्वदेशसे सम्बद्ध देशभक्तिको इसी प्रकारकी प्रवृत्ति समझना चाहिए जो

विभिन्न अवसरोंपर स्वदेशके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारके भावावेग अनुभव करनेको प्रेरित करती है और जिसकी प्रेरणासे ही हम परिस्थितिके अनुसार क्रोध या प्रेमके भावावेगका अनुभव करते हैं या किसी दूसरेपर आक्रमण या अपनी रक्षाकी प्रेरणाका अनुभव करते हैं। हमारे प्रतीत्यात्मक (कोग्निटिव) और निर्णयभावित क्रिया (कोनेटिव एफ़ेक्टिव) तत्त्व भी हमारे उन मनोवेगोंके साथ अत्यन्त प्रगाढताके साथ सम्बद्ध है जो वास्तवमें हमारे अनुभवों और विचारोंकी प्रणालियाँ हैं और जिनके साथ अत्यन्त तीव्र भावावेगात्मक (इमोशनल) और मूलवृत्यात्मक प्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्टिव टेन्डेन्सीज़) सम्बद्ध हो जाती हैं। शैन्डका कथन है कि 'इन मनोवेगोंके-द्वारा ही मनुष्य स्वयं उन परिणामोंकी कल्पना कर लेता है जो मूलवृत्तियोंके स्वाभाविक (बायोलौजिकल) परिणामोंसे भिन्न होते हैं।' उसका कथन है कि प्रत्येक मनोवेगके साथ मनुष्य एक नया भय भी जोड़ता चलता है। जब वह अपनेसे स्नेह करता है तब वह अपने मान, धन, शक्ति तथा अपने प्रियजनका स्नेह खो जानेके भयसे चिन्तित भी रहता है कि कहीं ये सब नष्ट न हो जायँ क्योंकि इस प्रकारके उद्देश्य अन्य जीवोंमें नहीं होते। अतः इन नए उद्देश्योंके लिये मनुष्य नये-नये साधन प्रस्तुत करता रहता है। इस भयके कारण वह बहुत-सी बातें अपने पेटमें ही छिपाए रहता है। अपना सम्मान बनाए रखनेके लिये वह जान-बूझकर

अपनी बुरी भावनाएँ और बुरे कार्य छिपाता चलता है। इस कार्यमें अर्थात् सांसारिक बातोंको छिपानेके लिये उसे किसी मूलवृत्यात्मक अथवा अन्य कोई सीखी हुई वृत्ति सहायता नहीं देती वरन् उन्हें छिपानेके लिये वह मौनता, प्रवञ्चना या मिथ्याचारके नये-नये उपाय निरन्तर खोजा करता है।'

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब मनोवेगका विकास होने लगता है उस समय उसमें अनेक प्रकारकी प्रेरणाएँ, इच्छाएँ और भावावेग आदि इकट्ठे होते चलते हैं और वे सब परस्पर एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर किसी विशेष पदार्थके चारों ओर बँध जाते हैं। उस अवस्थामें यह बताना सामाजिक मानस-शास्त्रका कर्तव्य हो जाता है कि 'ऐसे मनोवेगोंके कारण अनेक समूह या समाज क्यों बन जाते हैं? और वे अपने सदस्योंके आचार-विचार और भावनाओंको क्यों प्रभावित करते हैं?' मनोवेग अपने पूर्ण रूपमें उसी समय व्यवस्थित हो पाते हैं जब वे विचारकी सीमातक पहुँच जायँ। इसका अर्थ यह है कि हमारे आत्मचेतन (सेल्फ़ कौन्शस) का स्वयं एक अपना निश्चित स्वत्व है जो निरन्तर और एक रहता है और जिसमें यह भी शक्ति है कि वह जीवनके सामान्य सिद्धान्त स्वयं बनावे और व्यापक आदर्शों-द्वारा सञ्चालित हो। इसी स्थलपर हम सङ्कल्पका रूप भी समझ सकते हैं, अर्थात् जब हम संङ्कल्पसे प्रेरित होकर कोई कार्य करते हैं, तो वह कार्य करनेकी प्रेरणा किसी नए कारणसे नहीं प्राप्त होती वरन् वह कार्य हमारी

प्रकृतिकी किसी बलवती तथा पहलेसे हमारी प्रकृतिमें गहरी जड़ पकड़ी हुई प्रणालीसे अर्थात् हमारी रुचियोंकी उस अत्यन्त दृढ़ प्रणालीसे निकलती है जो हमारे व्यक्तित्व या 'स्व'की स्थायी रुचि निर्माण किया करती है। इसी बातसे जाना जा सकता है कि हमारे सङ्कल्पको वह प्रबल शक्ति कहाँसे प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह तात्कालिक प्रेरणाओंको वशमें कर लेता है। उपर्यङ्कित विवरणसे स्पष्ट है कि हमारा सङ्कल्प अपनी प्रबल शक्ति स्वतः प्राप्त करता है। सङ्कल्प ऐसी कोरी भावना-मात्र नहीं है जिसमें कोई निर्णयात्मक (कोनेटिव) शक्ति न हो, वरन् सच पूछिए तो वह हमारी निर्णयात्मिका प्रकृतिका पूर्ण विकसित स्वरूप ही है। यह सङ्कल्प हमारी निर्णयात्मक तथा क्रियात्मक रुचियोंकी जटिल प्रणालियोंमें समन्वय उत्पन्न करता हुआ उन्हें सुलझाता रहता है। उसीकी शक्ति ही वास्तवमें हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी शक्ति है। इसलिये हमारे सङ्कल्पमें निर्णय (कोनेशन) और प्रतीति (कौग्निशन) दोनों अत्यन्त समीपताके साथ सम्बद्ध हैं, अर्थात् हमारे सम्पूर्ण कार्योंमें स्वयं ऐसी प्रेरणाएँ और भावनाएँ भरी हुई हैं जो समन्वित और व्यवस्थित हैं। इनमें व्यापक उद्देश्य बनानेकी ऐसी शक्ति है कि ये सामाजिक आदर्शों और विचारोंसे निर्देश लेकर अपना पथ निर्धारित करती चलती हैं। इस प्रकार इच्छापूर्ण कार्य वह है जो हमारे पूर्ण व्यक्तित्व या 'स्व'से उत्पन्न होता है

और जो हमारे चरित्रकी मूल रुचियोंको व्यक्त करता है। इससे स्पष्ट है कि हमारा सङ्कल्प हमारे सक्रिय स्वभावसे भिन्न नहीं है।

कुछ लेखकोंका मत है कि 'हमारा 'स्व'का विचार हमारी सम्पूर्ण क्रियाओंका निर्णायक होता है।' उसका विरोध करते हुए डा० मैकडुगलने कहा है कि 'केवल 'स्व'के विचार-मात्रका कोई निर्णयात्मक महत्त्व नहीं होता।' उन्होंने यह प्रतिमान निकाला है कि 'हमारी निर्णयशक्ति (वौलिशन) में यह समन्वयकी भावना प्रधान होती है कि मैं भी कुछ हूँ।' यह भावना हमें उस निर्णय-शक्तिमें बाँध देती है। वास्तवमें हमारे सम्पूर्ण नैतिक विकासके आधारके कारण हमारे मनोवेग ही हैं, किन्तु निर्णय-शक्ति (वौलिशन) में केवल 'स्व'का ही विचार-मात्र नहीं वरन् वे प्रवृत्तियाँ भी होती हैं जिनके समन्वयसे 'स्व'का निर्माण होता है और उसी 'स्व'में निर्णयकी शक्ति भी होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आत्म-पूजाका मनोवेग बड़े महत्त्व-का होता है किन्तु उसके द्वारा जो मानसिक सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है वह अत्यन्त सङ्कुचित और असहानुभूति-पूर्ण होती है। हम ऐसे व्यक्तिको बहुत अच्छा नहीं समझते जो केवल इसीलिये भलाई करता हो कि उसे इससे आनन्द मिलता है। अधिक मानसिक सामञ्जस्य उस स्थितिमें अधिक होता है जब किन्हीं बड़े उद्देश्योंके लिये अत्यन्त तीव्र भावावेग या भक्ति हो। किन्तु ऐसे उद्देश्योंका स्वतः अपना महत्त्व होना

चाहिए अर्थात् वे ऐसे न हों कि वे हमारी आत्म-प्रतिष्ठाकी सहजवृत्ति मात्रको ही संतुष्ट कर पाते हों।

इस आधारपर कहा जा सकता है कि विवेकका काम किन्हीं उद्देश्योंके लिये साधन ढूँढ़ना मात्र नहीं है। उसका काम है व्यापक और सुसम्बद्ध उद्देश्योंकी दृष्टिसे हमारी प्रेरणाओंको सामञ्जस्य-युक्त बनाना अर्थात् उसका मुख्य कार्य है निर्देश देना और व्यवस्था करना। तात्पर्य यह है कि विवेक तो विकास और सामञ्जस्यका साधन और उस सामञ्जस्यके लिये प्रयास है यद्यपि मानसिक विकासके प्रारम्भमें यह सामञ्जस्य बहुत संकुचित और थोड़ा होता है। विवेकके अतिरिक्त हमारी मूलवृत्तियाँ भी साधारण सामञ्जस्यमें बहुत कुछ सहायक होती हैं किन्तु वे उतनी व्यवस्थित नहीं होतीं। ज्ञान और आचरणके क्षेत्रमें तो विवेकका काम है सामञ्जस्य स्थापित करना, सिद्धान्तके क्षेत्रमें उसका काम है हमारे अलग-अलग अनुभवोंके तत्वोंको जोड़ते हुए किसी सामञ्जस्य स्थापित करनेवाले सिद्धान्तमें उनका कारण ढूँढ़ निकालते चलना और व्यवहारके क्षेत्रमें विवेकका काम है हमारे जीवनको पूर्ण सामञ्जस्ययुक्त बनाते चलना। इसी प्रकार हमारे सङ्कल्प या व्यवहारके क्षेत्रमें विवेकका कोई ऐसा अलग अस्तित्व नहीं है जो केवल संघर्षके ही अवसरपर आकर अपने उन भावात्मक सिद्धान्तोंके आधारपर अपनी प्रकृतिसे प्राप्त कोई आज्ञा दे वरन् वह तो मूलतः ऐसी प्रेरणाओंका सामञ्जस्य है जो उन

उद्देश्यों और सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे उत्पन्न हुआ है जो हमारी मूल प्रकृतिसे चेतना और प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जो लोग विवेक और संकल्पका विरोध करते हैं वे उसे केवल भावात्मक समझनेकी भूल करते हैं। वे इस आधारपर विरोध नहीं करते कि 'विवेक' नामके अलग अस्तित्ववाली वृत्तिका 'प्रेरणा' नामकी अलग अस्तित्ववाली वृत्तिसे संघर्ष है। वास्तवमें यह भ्रम इसलिये उत्पन्न हुआ कि मनुष्यने समाजमें जो सामञ्जस्य अभीतक स्थापित किया है वह बहुत थोड़ा है। इसका अर्थ यही है कि अभी और अधिक सामञ्जस्यकी आवश्यकता है तथा व्यक्ति और समाजमें सामञ्जस्य-पूर्ण विकासकी परिस्थितियोंका और भी अधिक ज्ञान अपेक्षित है।

मुख्य प्रश्न यह है कि विवेक और संकल्पका हमारे सामाजिक व्यवहारमें क्या प्रयोजन है? ऊपर बताया जा चुका है कि विवेक तो मूलतः सामञ्जस्य स्थापित करनेकी प्रवृत्ति है। अतः यह हो संभव है कि सामाजिक संस्थाओंमें कोई सामञ्जस्यके सिद्धान्त पहलेसे निहित हों किन्तु उन्होंने अपने विकासकी परिस्थितियोंपर भली प्रकार शासन न कर पाया हो। यह भी हो सकता है कि उन संस्थाओंका विवेकात्मक रूप तब स्पष्ट हो जब वे अपने जीवनकी उस पूर्ण स्थितितक पहुँच जायँ। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सभी सामाजिक परिस्थितियोंमें सामञ्जस्यपूर्ण जीवनके लिये प्रयास अवश्य होता है और यह

प्रयास भी निरन्तर नहीं होता वरन् धीरे-धीरे अपनी व्यापकता और परिधि बढ़ाता रहता है।

सामाजिक दर्शनकी दृष्टिसे यदि सामाजिक संस्थाओंके उद्देश्यपर विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि सभी सामाजिक संस्थाओंको व्यक्तित्वके सर्वांगीण विकासके उपाय ढूँढ़ लेने चाहिएँ और ऐसी प्रणालियाँ खोज निकालनी चाहिएँ जो विकासकी सब परिस्थितियाँ प्राप्त करनेके लिये आवश्यक हों। अभीतक सामाजिक संस्थाएँ जिस अवधितक पहुँची हैं वे इस बातका प्रमाण हैं कि मनुष्यने विवेकात्मक सामञ्जस्य जिस सीमातक प्राप्त किया है वह पर्याप्त नहीं हैं। ये संस्थाएँ न तो किसी एक मस्तिष्कके परिणाम हैं और न हम यही कह सकते हैं कि उन्होंने पहलेसे ही कुछ सिद्धान्त सोच-विचारकर स्थापित कर दिए हैं उन्हें देखकर तो ऐसा प्रतीत होता कि मानो वे 'भूल करो और सुधारो' (ट्रायल एण्ड ऐरर) की प्रणालीसे बने हैं जिनमें निरन्तर यह प्रयास होता रहा कि जीवनकी सम्पूर्ण विषमताओं और समस्याओंका समाधान प्राप्त किया जाय। कभी-कभी तो उन संस्थाओंके उद्देश्य भी अत्यन्त परस्पर विरोधी होते हैं और उनका सामञ्जस्य भी अधिकांश जनताकी महत्त्वपूर्ण माँगोंको दबाकर सिद्ध किया जाता है। अतः सभी सामाजिक संस्थाओंकी यह परीक्षा की जानी चाहिए कि उनके अस्तित्वका उद्देश्य क्या है, वे कहाँतक सामञ्जस्य-पूर्ण तथा पूर्ण जीवन सम्भव बना रही हैं और इस कार्यके लिये

जिन साधनोंका आश्रय ले रहे हैं वे अन्यायपूर्ण तो नहीं हैं किन्तु इस प्रकारकी खोज हो ही नहीं सकती।

यदि हम विचारको केवल भावात्मिका शक्ति समझनेकी भूल न करें तो हमें इतना मानना ही पड़ेगा कि सामाजिक व्यवहारमें उसका प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। बरट्रैन्ड रसलका कथन है कि 'अन्तमें चलकर मनुष्यकी अन्य शक्तियोंकी अपेक्षा विचारकी शक्ति सबसे अधिक प्रबल होती है। यद्यपि पूर्णतः ठीक तो कोई बिरला ही विचार होता है किन्तु वह निःशक्त और निरर्थक नहीं होता।' सामाजिक संस्थाएँ अपनेको जितना समझती हैं उतनी वे नहीं इस बातसे हमें यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि विवेकको पूर्णतः तिलाञ्जलि दे दी जाय। वरन् हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने समाजोंकी निरन्तर छानबीन करके उनके दोष और उनकी त्रुटियाँ दिखाते रहें, उनकी विषमताओं और उनके अनैक्योंके तत्त्व सामने लाते रहें, और पूर्ण तथा सामञ्जस्यपूर्ण जीवनकी परिस्थितियोंके पर्याप्त ज्ञानसे सधे हुए विवेकात्मक सिद्धान्तोंके आधारपर उन्हें ढालते रहें।

भारतीय आचार्योंने विवेक उस शक्तिको बताया है जो किसी वस्तुका तत्काल साक्षात् ज्ञान होते ही यह निर्णय कर दे कि यह अच्छी है या बुरी, ग्राह्य है या अग्राह्य, करणीय है या अकरणीय। समाजके महापुरुषोंकी इन विवेकपूर्ण मान्यताओंके आधारपर ही समाजके सिद्धान्तोंका निर्माण होता है और यही

आगे चलकर समाजका आचार बन जाता है। मनुष्य प्रायः अपने व्यक्तिगत विवेकके बदले परम्परागत विवेक अर्थात् समाजके अन्य प्रतिष्ठित लोगोंके व्यवहारपर आश्रित होकर चलते हैं। यही सामाजिक विवेक है और इसीसे समाजकी रूढियोंका निर्माण होता है। समाजके शासक जितने विचक्षण, विद्वान् और लोक-मान्य होते हैं उतना ही वहाँका सामाजिक विवेक प्रौढ़ होता है और उसी अनुपातसे वहाँका समाज भी विवेकपूर्ण होता है। यह कहना नितान्त भ्रामक है कि प्रत्येक मनुष्य विवेकसे काम करता है। अधिकांश व्यक्ति रूढ विवेकसे काम करते हैं। केवल कुछ गिने-चुने विशिष्ट व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्वतः विवेकसे काम लेकर रूढिमें परिवर्त्तन करते और नई रूढियाँ चलाते हैं।

सङ्कल्पके सम्बन्धमें भी भारतीय आचार्योंका मत है कि 'सङ्कल्प मनुष्यकी वह व्यक्तिगत मानसिक शक्ति है जो किसी विशेष अवसरपर किसी विशेष परिस्थितिमें या तो उसके व्यक्तिगत उद्वेगोंसे प्रभावित होकर, उसके मनको मथकर निश्चयका रूप धारण करती है अथवा लोक-कल्याणकी किसी रूढ भावनाके अनुसार वह सङ्कल्प-शक्ति मनुष्यकी व्यक्तिगत, जातिगत या समाजगत भावनाके संस्कारके आधारपर अपना स्वरूप निधारित करती है।' अतः समाजके लिये सङ्कल्प अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। यह सङ्कल्प-शक्ति समाजके सदस्योंमें जितनी प्रौढ होगी उतना ही वह समाज भी प्रौढ

होगा। भारतीय समाजने प्रारम्भसे ही अनेक उदाहरणोंके द्वारा शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, रघु आदि महापुरुषोंके उदात्त चरित्रोंके द्वारा ऐसे आदर्श उपस्थित किए हैं कि उनसे समाजके किसी व्यक्तिको अपना सङ्कल्प निर्धारित करनेमें किसी विशेष उद्वेगात्मक प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती वरन् वह स्वभावतः उन प्राचीन गौरव-गाथाओंके संस्कार-मात्रसे ही सङ्कल्पका रूप स्थिर कर लेता है। अतः व्यक्तिगत सङ्कल्प दो प्रकार के होते हैं— १. अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला, जिसमें हम अपने सुख, स्वार्थ, मानापमान, प्रतिहिंसा आदिकी दृष्टिसे अपने भावावेगों, उद्वेगों या व्यक्तिगत तृप्तिके लिये निश्चय करते हैं। २. समाजसे सम्बन्ध रखनेवाला, जिसमें हम किसी रूढ आदर्शका पालन अथवा नया आदर्श स्थापित करनेके लिये कोई निश्चय करते हैं।

अभीतक तो हम व्यक्तिकी दृष्टिसे विवेक और सङ्कल्पपर विचार कर रहे थे किन्तु वास्तवमें हमें तो यह विचार करना है कि क्या समूहमें पहुँचकर भी व्यक्तिका विवेक और सङ्कल्प वैसा ही बना रहता है जैसा अकेले रूपमें।

११

परम्परा और रीति-नीति

संसारकी प्रत्येक जाति या प्रत्येक मानव-वर्ग कुछ विशेष आचार-व्यवहार और रीति-नीतिका आँख मूँदकर पालन करता आया है। इन सब विचारों, अभ्यासों और रीति-नीतियोंका समूह ही परम्परा कहलाता है जो एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें स्वतः ढलता चला आता है। इनमेंसे बहुत-सी परम्पराएँ तो अपने समाजमें ही हमें दिखाई दे जाती हैं किन्तु अधिकांश परम्पराएँ कथाओं, प्रवचनों, पुस्तकों और शिक्षा-पद्धतियोंसे भी हमें प्राप्त होती हैं।

रीति और आचार

वुन्ड्टने माना है कि 'रीति (कस्टम) ऐसी स्वतःक्रिया (वालेन्टरी ऐक्शन) का रूप है जो किसी राष्ट्रीय जातिमें स्वतः विकसित हो जाया करता है।' मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो रीति एक प्रकारका अभ्यास (हैबिट) है। अन्तर

इतना ही है कि यह अभ्यास किसी एक व्यक्तिका न होकर किसी जातिके अधिकांश व्यक्तियोंका होता है। किन्तु फिर भी रीति और अभ्यास दोनों एक नहीं हैं। रीति तो एक सामाजिक नियम (रूल) या नियमका व्यापक मान्य रूप (नौर्म) होता है; किन्तु उसे मानना या न मानना व्यक्तिपर अवलम्बित होता है। किन्तु अभ्यास तो व्यक्तिकी क्रियाओंमें ऐसा बँधा रहता है कि मनुष्य अनजाने ही उसके अनुसार काम करने लगता है। अतः रीति केवल केवल किसी क्रिया या व्यवहारका अभ्यास नहीं वरन् क्रिया या व्यवहारके लिये एक प्रकारका व्यापक निर्णयात्मक व्यवस्था है। इसीलिये रीति और आचार (यूसेज) दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं क्योंकि आचारके अन्तर्गत तो वे सब क्रियाएँ आ जाती हैं जिनका अभ्यास होते-होते किसी जातिके सदस्य व्यवहार करने लगते हैं। किन्तु रीति तो सर्वमान्य नियम (नौर्मेटिव) है। इस दृष्टिसे रीतिको एक प्रकारका सर्व स्वीकृत (सैन्क्शन्ड) आचार (यूसेज) मान सकते हैं।

रीति और चलन

रीति और चलन (फ़ैशन) भी दो भिन्न संस्कार हैं। चलन (फ़ैशन) तो किसी क्रियाको देखकर ज्योंका त्यों ग्रहण करना है अर्थात् दूसरोंको देखकर वैसा ही पहनने-ओढ़ने लगना, खाने-पीने लगना ही चलन (फ़ैशन) है और इसलिये वह पूर्णतः अनुवर्त्तन (इमिटेशन) पर अवलम्बित है। किन्तु रीति तो

परम्परागत रूढिका अनुपालन (कन्फ़ौर्मिटी) है अर्थात् वह कार्य करना है जो सदा किया जाता रहा है। हम लोगोंके यहाँ विवाह आदिके अवसरपर स्त्रियाँ कहा ही करती हैं—'हमारे यहाँ तो ऐसा ही होता आया है।' यही वास्तवमें रीति है। दूल्हेको घोड़ेपर ले जाना अथवा नालकी-पालकीमें ले जाना तो 'रीति' है किन्तु मोटरपर ले जाना 'चलन' (फ़ैशन) है। अतः रीति तो अपरिवर्त्तनीय परम्परागत आचार है किन्तु चलन (फ़ैशन) अत्यन्त तीव्रतासे और नए-नए वैज्ञानिक विकासों अथवा सामाजिक विचारोंमें परिवर्त्तनके साथ बदलते भी रह सकते हैं। यही चलन यदि पुराना पड़ जाय तो यह भी रीति हो जाता है।

रीतिकी उत्पत्ति

वून्ड्टका मत है कि 'रीतिके विकासका एक ही स्रोत होता है अर्थात् वह पहलेसे चली आती हुई किसी तत्सम प्रसङ्गकी रूढि है, किन्तु आचार (यूसेज), चलन (फ़ैशन) और अभ्यास (हैबिट) आदि तो प्राचीन व्यवहारोंके अवशेष और नए व्यवहारोंके रलगड्डमसे बनते चलते हैं।' इसका यह अर्थ नहीं कि समाजका कोई एक व्यापक 'स्व' रहा अथवा समष्टिगत मतैक्य रहा जिससे रीति चल पड़ी। वास्तवमें किसी एक व्यक्तिका (भारतीय मतानुसार समाजके श्रेष्ठ पुरुषका) आचार ही लोगोंको अच्छा, उचित, हितकर तथा मङ्गल प्रतीत हुआ, अनेक लोग वैसा ही करने लगे, बस रीति (कस्टम) का सूत्रपात हो गया। तौबह उसका मत है

कि 'समाज तो हम और हमसे मिलते-जुलते हमारे पूर्वजोंसे ही बना है' अतः 'रीति' का निर्माण भी पहले वैसे ही हुआ होगा जैसे आज होता है अर्थात् किसी एकके आचरणको देखकर, उसे अच्छा समझकर उसमें थोड़ा हेरफेर करके ऐसा व्यावहारिक बना लेना कि सब वैसा ही करने लगें।

वूंड्टका यह भी मत है कि रीति-सम्बन्धी जितनी क्रियाएँ हैं वे सबकी सब मूलतः शक्ति-पूजा या वीर-पूजाकी क्रियाएँ थीं। किन्तु वूंड्टने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया। हाँ, यह हो सकता है कि हम जिन अधिकांश रीतियोंका पालन करते हैं उनका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकारकी धार्मिक भावना या संस्कारके साथ उलझा हुआ हो।

रीतिका प्रयोजन

'रीति'ने मानव-समाजकी सबसे बड़ी सेवा यह की है कि विकासकी परम्पराके अनेक तत्त्व तथा लक्षण सुरक्षित रख छोड़े हैं अन्यथा प्रत्येक पीढ़ीमें मनुष्यको सदा वे ही बातें नये-नये ढङ्गसे सीखनी पड़तीं। लोग इसीलिये रीतिका पालन करते आए हैं कि इन रीतियोंमें मूलतः उन सब कार्यों और संस्कारोंकी आवृत्ति होती आई है जो पिछली अनेक पीढ़ियोंमें उनका प्रयोग करनेवाले लोगोंके लिये लाभप्रद सिद्ध हो चुके हैं। समाजके प्रत्येक व्यक्तिका अधिकांश ज्ञान अपने पूर्वजों-द्वारा संगृहीत उन अनुभवोंपर ही अवलम्बित रहता है जो हमें रीतिके-द्वारा सामाजिक ऋक्थ या बपौती (हैरिडिटी) से प्राप्त हो जाते हैं।

किन्तु कभी-कभी कुछ रीतियाँ अनावश्यक और भोंडी भी हो जाती हैं। हमारे यहाँ पहले लोग बारातमें हाथी, घोड़े, रथ, भाला-बल्लम और सेना लेकर चलते थे क्योंकि उन दिनों डाकुओंका भय लगा रहता था, अथवा अन्य किसी प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित हो जाया करती थीं। किन्तु आजकल इतनी भीड़ जुटाकर ले जाना आर्थिक दृष्टिसे तो भयङ्कर है ही, व्यवहार और आवश्यकताकी दृष्टिसे भी उनका कोई महत्त्व नहीं रह गया है। अतः एक ओर रीतियाँ जहाँ लाभकर हो सकती हैं वहाँ हानिकर भी हो सकती हैं।

रीतिका प्रभाव

समाज और समाजके सदस्योंपर रीतिका बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ता है। समाजके अधिकांश व्यक्ति अपढ़ या विवेक-हीन होते हैं इसलिये वे रीतिसे चिमटकर चलना चाहते हैं। उस रीतिमें तनिक-सी भी शिथिलता आई कि उनके कान खड़े हुए। इतना ही नहीं वे लोग भयभीत भी रहते हैं कि कहीं रीतिका पालन न करनेसे कोई अनिष्ट न हो जाय। जो व्यक्ति उस अनिष्टसे भयभीत नहीं भी है उन्हें भी यह भय तो बना ही रहता है कि हमारा समाज ही कहीं हमारा बहिष्कार न कर दे। यों भी, जो पहले से होता आ रहा है वह ज्ञात है और उसके सम्बन्धमें यह विश्वास भी है कि पहले उससे कभी किसीको कोई कष्ट नहीं हुआ किन्तु उसमें परिवर्तन करनेकी भावना आते ही यह भय भी लगा रहता

है कि न जाने उस परिवर्त्तनसे हमें हानि होगी या लाभ होगा। हमारे यहाँ कभी-कभी लोग कहते हैं कि, अमुक वस्तु हमें नहीं सहती। हमारे यहाँकी मूर्खताओंमें इससे बढ़कर कोई दूसरी मूर्खता नहीं है। किन्तु यह भी रीति बन जाती है। इस प्रकारकी रीतियाँ समाजको सदा अज्ञानकी ओर ले जाती हैं और विकसित नहीं होने देती। किन्तु कुछ रीतियाँ श्रेष्ठ प्रभाव भी डालती हैं जैसे अतिथि-सत्कारकी रीति, शरणमें आए हुएको शरण देनेकी रीति आदि। इस प्रकारकी रीतियाँ हमारे राष्ट्रिय चरित्रका विकास करती आई हैं और इन्हींके कारण हमारी जाति जीवित भी रही है। मानसशास्त्रकी दृष्टिसे कहा जाता है कि 'रीति तो अभ्यास और विभावन (सजेस्शन) के कारण बनती है' किन्तु यदि विभिन्न जातियोंका विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि रीतियाँ केवल परम्परित होकर सम्भवतः मनुष्यकी संघ-भावनाके कारण उत्पन्न होकर आई हैं, अर्थात् ज्यों-ज्यों मनुष्य एक दूसरेके सम्पर्कमें आकर एक दूसरेकी सुविधाका ध्यान रखने लगा त्यों-त्यों नई-नई रीतियाँ बनती और विकसित होती गईं। ट्रौटरका मत है कि 'सङ्घ अर्थात् समाजके अधिकांश व्यक्ति जो कुछ करते हैं उसका हम अत्यधिक आदर करने लगते हैं। इसी कारण रीतिका भी हमपर प्रभाव पड़ता है क्योंकि वह समाजका सर्वमान्य व्यवहार होता है।'

रीति (कस्टम) और नीति (लॉ)

विधान-शास्त्रियोंने बताया है कि रीति और नीति (लौ) में परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। प्रारम्भमें तो रीति और नीतिमें कोई भेद नहीं था, यहाँतक कि वर्त्तमान नीति (लौ) भी प्राचीन रीतियोंके आधारपर ही बनी है। मुसलमानोंमें भी हदीस (रीति) ही मुख्य है और उसीके आधारपर मुसलिम-नीति (मुसलिम लौ) का निर्माण हुआ है। हमारे यहाँ भी वर्त्तमान हिन्दू नीति (हिन्दू लौ) भी प्राचीन स्मृतियोंके आधारपर ही बनी है जो वास्तवमें हमारी प्राचीन रीतिकी ही रूढि हैं। हमारे यहाँ नीति, धर्म, आचार आदि सब धर्मसे ही पूर्णतः सम्बद्ध रहे हैं। आज जिसे हम नैतिकता कहते हैं वह भी हमारी प्राचीन रीतियोंके आधारपर बने हुए सामाजिक नियमोंकी समष्टि ही तो है। हमारा जितना कुछ भी नैतिक आचार है वह सबका सब परम्परागत और रूढिगत ही है। रीति और नीतिमें सबसे बड़ी समानता यह है कि दोनों ही लोकमान्य होती हैं और दोनोंकी अवहेलना करनेसे दण्डका भय बना रहता है। दोनोंमें उचित-अनुचितका सामाजिक निर्णय निहित रहता है और दोनोंका सम्बन्ध बाह्य आचरणसे होता है, मानसिक भावोंसे नहीं। वेस्टरमार्कने कहा है कि 'कभी-कभी ऐसी रीतियाँ भी चल सकती हैं जो नैतिक दृष्टिसे बड़ी बुरी हों।' अतः, रीति और नीति दोनों ही किसी समाजकी नैतिक भावनाकी अभिव्यक्ति हैं।

रूढिपालन (कन्फौर्मिटी)

संस्कृतमें कहावत है—'गतानुगतिको लोकः', अर्थात् लोग आगे चलनेवालेके पीछे लग लेते हैं। ऐसे लोग बहुत कम हैं जो रूढिसे अलग होकर या पुरानी रीति छोड़कर चलते हैं। कहावत भी है—

लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै कपूत।
लीक छाँड़ि तीनइ चलैं, सायर सिंह सपूत ॥"

अधिकांश लोग बने-बनाए मार्गपर चलना चाहते हैं, अपना नया मार्ग नहीं बनाते। हमारी जाति या समाजने जो रूढि निर्धारित कर दी है हम सब उसीको स्वीकार कर लेते हैं।

फ्लौयड औलपोर्ट और उसके छात्रोंने इस रूढि-पालनका अध्ययन इस दृष्टिसे किया कि हम अत्यन्त सामान्य नित्य प्रतिकी परिस्थितियोंमें कितने रूढि-पालक हैं। एक चौराहेपर मार्ग-निर्देशक बत्तीके नीचे खड़ा हुआ पुलिसमैन, जहाँ यातायातका नियन्त्रण कर रहा था, वहाँ इन लोगोंने एक सहस्र पैदल जानेवालोंको ध्यानसे देखा तो ज्ञात हुआ कि नब्बे प्रतिशत पैदल चलनेवाले तो हरा प्रकाश आनेतक मोड़पर शान्तिके साथ और आज्ञाकारिताके साथ चुपचाप खड़े रहे। आठ प्रतिशत ऐसे थे जो घुमावसे थोड़ा आगे बढ़ गए थे। दो प्रतिशत ऐसे थे जो चौराहेके बीचतक पहुँच गए थे और कुछ तीन प्रतिशत ऐसे निकले जो हरे प्रकाशकी उपेक्षा करके पार निकल गए थे। रूढि-पालनके अन्य परीक्षणोंमें भी यही देखा

गया कि बहुत कम लोग रूढिसे हटकर चलते हैं और ऐसा तो एक भी व्यक्ति नहीं निकला जो पूर्णतः रूढि या नियम तोड़नेवाला हो।

डेनियल कात्स और रिचार्ड एल्० शैंकने अपने 'सामाजिक मानसशास्त्र' नामक ग्रन्थमें इस बातके पाँच प्रमाण दिए हैं कि हम क्यों रूढि-पालक होते हैं—

"१. रूढिपालन सरल है। उसमें समय शक्ति और चिन्तनकी बचत होती है क्योंकि कुछ अपनी ओरसे निर्णय करनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

"२. यह अत्यन्त अल्प-व्ययसाध्य है, निरापद है और उसमें किसी प्रकारकी भ्रान्ति नहीं होती।

३. रूढिसे भिन्न चलनेमें हानि, निन्दा, अर्थ-दण्ड, अन्य दण्ड तथा सामाजिक बहिष्कारका भय भी हो सकता है।

४. यदि हम विश्वविद्यालय, गिरजाघर या सम्पूर्ण राष्ट्र जैसे अपने विभिन्न सामाजिक समूहोंके अच्छे नियम-पालक सदस्य बन जायँ तो हमारा आत्म-विश्वास बढ़ जाता है, हम स्वयं अपनेको कुछ समझने लगते हैं और हम उस आधारपर सामूहिक कल्याणकी पूर्तिका श्रेय और यश भी ले सकते हैं।

५. यदि हम प्रारम्भसे ही रूढि-पालनमें अभ्यस्त किए जायँ, समूहके साथ मिलकर काम करें और अपने नेताओंकी आज्ञाका पालन करें तो शीघ्र ही उसका अभ्यास पड़ जाता है और इस प्रकार रूढि-पालनसे हित ही होता है।"

भारतीय रीति-नीति

भारतीय दृष्टिसे रीतिका वही महत्त्व है जो वेद और स्मृतिका है—

श्रुति-स्मृति-सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार (सज्जनोंका आचरण या रीति) और जो अपने लिये हितकर प्रतीत हो वही प्रत्यक्ष धर्म (कर्त्तव्य) का लक्षण है । इसके अनुसार मनुष्यको वही कार्य करने चाहिएँ जिसकी वेद और स्मृतिने आज्ञा दी हो, जो सज्जन लोग करते हों तथा जो अपने लिये अच्छा लगे। 'जो अपने लिये अच्छा लगे' वैसा करनेका अर्थ यह है कि 'दूसरोंके प्रति वैसा व्यवहार कीजिए जो आप अपने लिये हितकर समझें'—

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

हमारे यहाँ दीक्षा-संस्कारके समय भी यही कहा जाता था कि जो 'सुचरित' है, उन्हींका पालन करो—

यानि सुचरितानि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।

अर्थात् हमारे यहाँ रूढि या रीतिका अर्थ केवल 'सुचरित' का ही पालन करना था और यही सुचरित ही सामाजिक आचारका यहाँतक आधार बना कि एक उक्ति ही प्रचलित हो गई—

'यद्यपि शुद्धं लोक-विरुद्धं नो करणीयं नाचरणीयम् ।'

अर्थात् कोई काम कितना भी अच्छा क्यों न हो किन्तु यदि वह लोक-विरुद्ध हो तो उसे नहीं करना या बरतना चाहिए। क्योंकि एक व्यक्तिके भिन्न आचरणसे समाजका सारा यन्त्र विशृङ्खल हो जा सकता है।

हमारे यहाँ 'नीति' का भी यही अर्थ है कि 'समाजके नेता जिधर ले चलें, जो मार्ग प्रदर्शित करें, जो आचरण प्रामाणिक कर दें, वही नीति है।' अतः हमारे यहाँ, रूढि, परम्परा, रीति और नीति सब पर्याय-वाची हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं रहा। रही चलनकी बात, उसमें यथावसर, यथा-परिस्थिति परिवर्त्तन अवश्य हुआ किन्तु वह भी केवल बाह्य प्रदर्शनात्मक रूपमें ही रहा, भावनामें परिवर्त्तन नहीं ला सका।

१२

जाति और वर्ग

जाति (कौम्यूनिटी) क्या है इस सम्बन्धमें कई मत प्रचलित हैं। इनमेंसे पहला सिद्धान्त अवयववादी या अङ्गाङ्गि-सिद्धान्त (ऑर्गेनिज़्म थियरी) है। इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए हौवहाउसने कहा है कि 'समाजके सभी व्यक्ति परस्पर एक दूसरेसे मूलतः सम्बद्ध हैं और यही पारस्परिक सम्बद्धता ही सामाजिक पूर्णताकी सृष्टि करती है।' यहाँ अङ्गाङ्गि-सम्बन्धका अर्थ यह है कि इस पूर्ण समाजमें जितने अङ्ग (व्यक्ति) हैं उनके पारस्परिक सम्बन्धसे ही समाजकी रचना हुई है, अर्थात् ये सब अङ्ग (व्यक्ति) अन्य सब अङ्गों (व्यक्तियों) से सम्बन्ध रखनेके कारण अपना-अपना निर्वाह पूर्ण करते हैं।

इसी सिद्धान्तके अनुसार कुछ लोग यह मानते हैं कि 'वर्ग या जाति कोई यन्त्रके समान गढ़ी हुई वस्तु नहीं वरन् एक

सजीव तत्त्व है जिसका स्वाभाविक विकास होता है।' इस दृष्टिसे न तो एक जाति अन्य जीवोंके समान दूसरी जाति या समाजको जन्म देती है और न उन जीवोंके समान समाप्त ही हो जाती है। यह अवश्य है कि जीवोंके समान वे परिस्थिति देखकर अपनेको ठीक बैठाती चलती हैं।

तीसरी बात यह है कि इस अङ्गाङ्गि-सिद्धान्तके अनुसार किसी भी समाजका सहसा आकस्मिक परिवर्त्तन कठिन है। समाजसे अलग करके सामाजिक प्रश्नोंपर विचार करना सम्भव नहीं है क्योंकि सामाजिक समस्याओंका इतना निकटका पारस्परिक सम्बन्ध है कि सामाजिक समस्याका कोई भी रूप उब अङ्गोंको बिना प्रभावित किए सम्भव ही नहीं हो सकता।

इस अङ्गाङ्गि-सिद्धान्तको लोग इतना अतिरञ्जित करके खींच ले गए हैं कि उसका स्पष्ट रूप छिप गया है। बहुतसे समाजोंमें जाति और व्यक्तिका सम्बन्ध इस सिद्धान्तके अनुसार ठीक-ठीक समझाया ही नहीं जा सकता क्योंकि समाजमें तो एकताके भीतर इतनी अनेकताएँ, समूहके भीतर इतने अधिक समूह हैं कि विभिन्न प्रकारके स्वार्थोंके कारण व्यक्तिका सम्बन्ध इन विभिन्न समूहोंसे विभिन्न प्रकारका हो जाता है। इस सिद्धान्तमें इस बातपर तनिक भी विचार नहीं किया गया कि समाजमें सङ्घर्ष भी तो है और जातिमें जो एकता और समरूपताका भाव स्थापित है वह स्वाभाविक न होकर अनेक

प्रकारके सामाजिक दबावोंके कारण समान प्रतीत हो रहा है। एक यह भी बात है कि यद्यपि व्यक्ति तत्त्वतः जातिसे सम्बद्ध होता है किन्तु जाति और कुछ नहीं वरन् परस्पर सम्बद्ध व्यक्ति ही तो हैं और वे व्यक्ति इन सम्बन्धोंमें समाप्त नहीं हो जाते अर्थात् उनका अलग व्यक्तित्व भी तो ज्योंका त्यों बना रहता है।

कुछ लोगोंने इस अङ्गाङ्गि-सिद्धान्त (ऑर्गेनिक थिअरी) को मनानस-शास्त्रकी दृष्टिसे विवेचित करते हुए कहा है कि 'जाति भी एक मस्तिष्क या व्यक्ति है।' इसका भी विचार ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकारके सभी सिद्धान्तोंमें सबसे बड़ा दोष यह है कि ये सबके सब जातिको मूर्त्तिमन्त रूप देकर जातिके जीवनको व्यक्तियोंके जीवनसे भिन्न प्रकारका समझ बैठे हैं और उसके उद्देश्य भी उस जातिके सदस्य व्यक्तियोंके उद्देश्योंसे भिन्न मानने लगे हैं।

यद्यपि नैतिक और क़ानूनी दृष्टिसे इन जातियोंके भी अधिकार और कर्तव्य निर्धारित हैं किन्तु इससे अङ्गाङ्गि सिद्धान्तको कोई सहायता नहीं मिलती क्योंकि ऐसी सब जातियाँ स्वतः किसी प्रकारका स्वत्व और भावावेग उत्पन्न नहीं करती। वहाँ जितना कुछ होता है वह व्यक्तियोंके लिये ही होता है और वह भी पूर्णतः सामाजिक होता है अर्थात् व्यक्तिका हित ही समाजका हित माना जाता है। इस अङ्गाङ्गि-सिद्धान्तसे हमें इतना ही समझना चाहिए कि 'समाजके व्यक्तियोंका पारस्परिक सम्बन्ध

मौलिक होता है और उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित रहता है।' किन्तु ये सब सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं, विभिन्न महत्त्वके होते हैं और इनमें एकता और सङ्घर्ष दोनोंके तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

जाति और समिति

जाति और समिति(एसोसिएशन) को एक नहीं समझ लेना चाहिए। जाति (कौम्यूनिटी) का अर्थ तो वह समूह है जिसके सामाजिक सदस्य एक ही प्रकारका व्यापक तथा परस्पर-सम्बद्ध जीवन व्यतीत करते हों। किन्तु समितिका अर्थ है 'सामाजिक लोगोंका वह समूह जो किसी विशिष्ट उद्देश्य या उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिये संघटित किया गया हो और जिसमें लोग जबतक चाहे सदस्य रह सकते हैं और जब चाहें तब छोड़ सकते हैं।' यद्यपि इन समितियोंमें भी सब सदस्य परस्पर सम्बद्ध रहते हैं किन्तु उनका सम्बन्ध एक निश्चित सीमातक ही परिमित रहता है। यही दोनोंमें अन्तर है।

संस्थाएँ (इन्स्टिट्यूशन्स)

'संस्थाएँ वे निश्चित तथा मान्य सामाजिक संघटन हैं जिनमें कुछ सदस्य पारस्परिक हितके लिये या किसी बाह्य व्यापक उद्देश्यके लिये संघटित होते हैं।' संस्थाओंके सदस्य अनेक जातियों तथा देशोंके भी हो सकते हैं जैसे—'रेडक्रास सोसाइटी'के सदस्य विश्व भरमें व्याप्त हैं जिनका उद्देश्य

है 'सङ्कटमें पड़े हुए लोगोंकी रक्षा करना।' संस्थाके सब सदस्य विभिन्न वर्गों और समितियोंके भी हो सकते हैं किन्तु ये सभी परस्पर एक विशेष बाह्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये विश्व-भरमें सङ्घटित होते हैं जिसमें कई सहस्र मस्तिष्क एक साथ परस्पर सम्बद्ध होकर विचार-विनिमय करके कोई विधान बनाकर कार्य करते हैं। विश्वविद्यालय, राष्ट्रसंघ, युद्ध आदि सब इसी प्रकारकी संस्थाएँ हैं।

१३

भीड़की मनोवृत्ति

कभी-कभी लोग कहा करते हैं कि 'भीड़में इस प्रकारकी बातें हुआ ही करती हैं' अथवा यह 'भीड़की मनोवृत्ति' (मौब साइकोलौजी) है। 'भीड़ (क्राउड) क्या है', इस सम्बन्धमें लोगोंके अनेक मत हैं। लेबोंका मत है कि 'मानस भीड़ (साइकोलौजिकल क्राउड) के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बहुतसे लोग इकट्ठे हों ही। इसका अर्थ इतना ही है कि बहुतसे लोगोंके भाव और विचार एक ही दिशामें प्रवाहित होकर एक सम्मिलित मत (यूनिटरी कलैक्टिव माइन्ड) बन जायँ।' सर मार्टिन कौन्वेने भी माना है कि 'भीड़का अर्थ है भिन्न और चेतन अस्तित्व रखनेवाले मनुष्योंका समूह।' कौन्वेने भीड़के अन्तर्गत लोकसभा, जाति, साम्राज्य और राष्ट्र सब कुछ मान लिया है। तार्देने भीड़ (क्राउड) और जनता (पब्लिक) का भेद बताते हुए दोनोंको अलग-अलग माना है, किन्तु मानसशास्त्रीय

दृष्टिसे 'भीड़ (क्राउड) वह जनसमूह है जो किसी विशेष परिस्थितिमें सर्वसामान्य उल्लास या विषादसे प्रेरित होकर किसी एक प्रकारकी प्रतिक्रियाके लिये सन्नद्ध हो।' क्योंकि जब हम भीड़की विवेचना करते हैं तब हमारा उद्देश्य इसी प्रकारके जनसमूहकी विवेचना करना होता है।

कुछ लोगोंने जनसमूहोंको दो रूपोंमें बाँटा है— १. सङ्घटित और २. असङ्घटित। किन्तु यह भेद भी ठीक नहीं है। नियमसे व्यवस्थित होकर इकट्ठे होना ही सङ्घटन है और स्वतः आत्मप्रेरणासे किसी सर्वसामान्य उद्देश्यके लिये इकट्ठे होना असङ्घटन है। इस 'असङ्घटित' समूहके भीतर सब प्रकारकी भीड़ आ सकती है। सङ्घटितके अन्तर्गत वे सब संस्थाएँ और समितियाँ आती हैं जो किसी व्यवस्थित विधानके अनुसार बनती हैं। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि 'किसी निश्चित उद्देश्यकी ओर एकाग्र होनेवाले मनुष्योंके उस समूहको भीड़ कहते हैं, जिसके प्रत्येक सदस्यके मनमें समान विचार और भावावेग उपस्थित हों।' प्रायः कहा जाता है कि भीड़वालोंकी बुद्धि बहुत निम्न कोटिकी होती है, इस सम्बन्धमें हम पीछे कुछ परीक्षणोंका विवरण दे भी आए हैं। इसका अत्यन्त सरल कारण यह है कि भीड़के समय सब लोग अपना विवेक खोकर किसी भावावेगसे प्रभावित होकर काम करते हैं। यदि वे शान्तिके साथ एकत्र होकर विचार-विनिमय करते तो सम्भवतः उसका परिणाम अच्छा होता-

किन्तु भीड़में अधिकांश लोग अपनी विचार-शक्तिको सुलाकर भीड़के नेताकी शब्दावली और उदाहरणके-द्वारा समझाई हुई बातको ही उचित मान बैठते हैं। यदि वह नेता कुशल वक्ता हुआ तब तो भीड़के प्रत्येक सदस्यकी बुद्धि और भी कुण्ठित हो जाती है। अतः भीड़ को केवल नेताके सङ्केतपर चलनेवाला समूह समझना चाहिए क्योंकि भावावेगता अर्थात् भावोंकी तीव्रता ही भीड़का विशेष लक्षण होता है। किसी विशेष भय, क्रोध, आशङ्का आदिके कारण भीड़के लोग इतने भावित रहते हैं कि उनकी विचार या विवेक-शक्ति उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जैसे क्रोध या भयकी स्थितिमें। इसके अतिरिक्त भीड़के लोगोंको यह भी विश्वास रहता है कि हमें कोई पहचानेगा तो है नहीं इसलिये लोग अपने साधारण व्यवहारको छोड़कर सीटी बजाते, चिल्लाते और कोलाहल करते हैं जिसे देखकर दूसरे लोग भी वैसा ही करने लगते हैं।

कुछ लोगोंका मत है कि भीड़ सदा अनैतिक होती है। किन्तु यह कहना नितान्त असत्य है क्योंकि यह तो उस कार्यके उद्देश्य, प्रेरणा और नेतृत्वपर निर्भर है जिसके लिये भीड़ जुटती है। हाँ, कभी-कभी यह अवश्य होता है कि नेताके शुद्ध उद्देश्य होनेपर भी भीड़ अधिक विचलित हो जाती है जैसे सत्याग्रहके दिनोंमें अहिंसा और सत्यका प्रचार होनेपर भी चौरी-चौरा जैसा भयङ्कर काण्ड हो गया।

किसी भी भीड़के मनुष्य अपनी बुद्धि क्यों खो बैठते

हैं इस सम्बन्धमें लेबोंने कहा है कि 'भीड़में उस भीड़के सदस्योंकी बुद्धिसे भिन्न एक नई प्रकारकी बुद्धि आ जाती है, इसलिये भीड़के लोग कभी-कभी अपनी स्वाभाविक भावना और विचारधारासे भिन्न होकर वैसा ही करने लगते हैं जैसा भीड़के अन्य सदस्य करते हैं।' लेबोंने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया कि इस प्रकारकी कोई अलग मनोवृत्ति बन जाती है। इस सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि भीड़ विभावनशील अधिक होती है तथा विचारशील और उत्तरदायित्वपूर्ण कम होती है। कुछ लोगोंने लेबोंके ही मतका समर्थन करते हुए मान लिया है कि 'भीड़में हमारे अचेतन भाव अधिक उद्बुद्ध हो जाते हैं।' किन्तु मैकडूगल इससे सहमत नहीं है क्योंकि इसका भी कोई प्रमाण अभीतक प्राप्त नहीं हुआ। लेबोंने ही एक तीसरा कारण भी बताया है कि 'भीड़में एक प्रकारका ऐसा चमत्कारी प्रभाव होता है कि वह अपने सब सदस्योंको एक साथ उसी प्रकार सम्मोहित कर लेता है जैसे निद्रा-संचरण (सौम्नेम्बुलिज़्म) अथवा सम्मोहन (हिप्नॉटिज़्म) की स्थितिमें होता है।' यह वक्तव्य भी नितान्त भ्रामक है क्योंकि किसी भी भीड़ या समूहमें जितने भी व्यक्ति होते हैं वे स्वयं उस भीड़के मूल उद्देश्यसे तो परिचित होते ही हैं चाहे उस उद्देश्यकी प्राप्ति अथवा उस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये किए हुए उपायोंके सम्बन्धमें उन्हें भले ही अधूरा ज्ञान या भ्रान्ति हो। निद्रा-सञ्चरणके रोगमें तो रोगी पूर्णतः मूल

ही जाता है कि निद्रामें मैं क्या कर रहा था किन्तु भीड़के सदस्योंको तो अपने सब व्यवहारका ज्ञान होता है। इसी प्रकार सम्मोहित व्यक्तिकी सब मानसिक चिन्तनकी क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं किन्तु भीड़के सदस्योंमें तो वे सबकी सब प्रस्तुत रहती हैं। अतः वास्तविक बात यह है कि हम भीड़में पड़कर सामाजिक भावनासे इतने अधिक अनुप्राणित हो जाते हैं कि हम अपने 'स्व'को छोड़कर सामाजिक 'स्व में प्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् जो भय, आशङ्का, कष्ट आदि सबपर आनेवाला है उसकी भावनासे प्रभावित होकर उसकी प्रतिक्रिया करनेकी तीव्र लालसा यह देखकर और भी तीव्र हो जाती है कि उसमें सहायता देनेवाले अन्य लोग भी उपस्थित हैं। विदेशी समाज-शास्त्रियोंने एक बातपर विशेष ध्यान नहीं दिया कि प्रत्येक मनुष्य जब यह अनुभव करता है कि हमारी सहायता करनेके लिये अन्य लोग भी उपस्थित हैं अथवा हमारे सुख और दुःखमें भाग लेनेवाले अन्य लोग भी सम्मिलित हैं तब वह सब प्रकारके सङ्कोच छोड़कर काम करने लगता है। हमारे यहाँ एक कहावतमें ही इस समस्याका समाधान कर दिया गया है—'पञ्चों मिलकै कीजै काज, हारे जीते होय न लाज'।

यह धारणा भी अत्यन्त भ्रामक है कि भीड़का बुद्धिस्तर सदा निम्न कोटिका रहता है। यह तो भीड़की प्रकृतिपर अवलम्बित है। यदि विद्वानोंकी भीड़ होगी तो उसका बुद्धिस्तर अधिक होगा, मूर्खोंकी भीड़का बुद्धिस्तर अवश्य निम्न कोटिका

होगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दो प्रकारके व्यक्ति भीड़में भाग नहीं लेते—एक तो भीरु और दूसरे अतिशय बुद्धिमान्। भीरु तो शारीरिक या आर्थिक हानिके भयसे भाग नहीं लेता और बुद्धिमान् इस प्रकारके सामूहिक काण्डोंको निरर्थक समझकर भाग नहीं लेते। ऐसे लोग मार्ग-निर्देश कर दिया करते हैं, नेतृत्व भी कर लेते हैं किन्तु स्वयं अग्रणी नहीं होते क्योंकि वे नीतिका वचन जानते हैं—

'यदि कार्य-विपत्तिः स्यात् मुखरस्तत्र हन्यते।'

यदि काम बिगड़ा तो मुखिया ही मारा जाता है। अतः, स्वभावतः भीड़में एकत्र होनेवाले लोग सदा साधारण या निम्न बुद्धिके ही होते हैं।

योरोपीय मानस-शास्त्रियोंने भीड़की जो परिभाषा दी है और जो विश्लेषण किया है वह अत्यन्त भ्रामक है। साधारण व्यवहारसे देखा जाता है कि भीड़में केवल किसी विशेष उद्देश्यसे प्रेरित हुए लोग ही नहीं रहते वरन् उनमें ऐसे लोग भी होते हैं (१) जो केवल दूसरोंको उत्तेजना प्रदान करते हैं—'चढ़ जा बेटा सूलीपर राम भली करेंगे।' (२) जो मार्ग बताते हैं, भीड़की परिस्थिति उत्पन्न करते हैं और स्वयं उसका आनन्द लेते हैं—'घरमें आग लगाके जमालो दूर खड़ी।' (३) जो भीड़में केवल कुतूहलसे प्रेरित होकर पहुँचते हैं और जिनका अभ्यास है कहीं भी भीड़ देखकर भीतर जा घुसना—

'करगह छोड़ तमासे जाय। नाहक चोट जुलाहा खाय॥'
ऐसे लोग तमाशबीन होकर जाते हैं या स्वयं झगड़ेमें पड़कर समझौता करानेके लिये चले जाते हैं। (४) जो व्यक्ति वास्तवमें भीड़के सदस्य होते हैं और जिनका एकत्रित भीड़के उद्देश्यसे स्वार्थ-सिद्धि होती या घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इनमें मुख्यतः वे ही लोग होते हैं जो अधिक उद्वेगपूर्ण और मनोदेगात्मक (सेन्टिमेंटल) होते हैं।

अतः भीड़में स्वभावतः कम बुद्धिवाले लोग ही पहुँचते हैं। यदि बुद्धिशाली व्यक्ति कभी इसमें सम्मिलित भी हुए तो उनका विवेक भी उसमें कम हो जाता है क्योंकि उद्वेग और उत्तेजन जहाँ रहता है वहाँ विवेक स्वतः कम हो जाता है। दूसरी बात यह है कि भीड़को नेताकी बल-बुद्धिमें अधिक विश्वास हो जाता है और यदि वह नेता अपने त्याग, तपस्या बलिदान आदिके कारण श्रद्धेय बन गया हो, तो लोग आँख मूँदकर; यहाँतक कि उसका पक्ष अशुद्ध जानकर भी उसकी आज्ञाका पालन करनेमें गौरव और पुण्य मानते हैं। हमारे देशमें भीड़की वृत्ति कभी-कभी इसी अन्ध-भक्तिसे प्रेरित होती है। बहुत-सी अन्य जातियोंमें भी अपने मुखिया, नेता या आचार-विचारके सम्बन्धमें इसी प्रकारकी अंध-भक्ति होती है जहाँ अपने विवेकका प्रयोग न करना ही जातीय गौरव माना जाता है।

कभी-कभी मिथ्या वर्ग-सम्मानके कारण भी भीड़ एकत्र

हो जाती है और वह अविवेक-पूर्ण कार्य करने लगती है, जैसे कोई विद्यार्थी बिना बत्तीके बाइसिकिल चलाते पकड़ा गया तो अन्य छात्र इसे छात्र-मात्रका अपमान समझकर पुलिस-वालेको पीटते, पुलिस-गाड़ी या थानेमें आग लगाते या अन्य इस प्रकारका उद्दण्डता-पूर्ण कार्य करते हैं। इस प्रकारकी भीड़ सदा नेता-विहीन होती है। अतः, भीड़ कभी-कभी उद्देश्य-विहीन और नेता-विहीन भी होती है और यदि उस समय कोई नेता बन भी जाता है, वह उद्वेगशील और भावावेगशील होता है, विवेकशील नहीं। अतः भीड़में पहुँचने-पर श्रद्धा, अन्धभक्ति, वर्ग-सम्मान तथा नेतामें अधिक बल-बुद्धिकी मान्यताके कारण ही लोग अपने विवेकका प्रयोग नहीं करते इसलिये वे विवेकहीन प्रतीत तो होते हैं किन्तु वास्तवमें वे विवेक-हीन होते नहीं, वे जानबूझकर अपने विवेकका प्रयोग नहीं करते।

नेतृत्व

हम ऊपर बता आए हैं कि भीड़, जनता और समाजपर नेताओंका बड़ा प्रभाव पड़ता है, इसीलिये सामाजिक मानसशास्त्री नेतृत्वकी प्रकृतिकी अपेक्षा नेताओंकी विशेषताओंपर अधिक ध्यान देते हैं। व्यवहारतः देखनेमें आता है कि नेता लोग अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं किन्तु नेतृत्व और प्रभाव शालिता दोनों एक वस्तु नहीं है। पी० जे० डब्लू० पिगर्सने नेतृत्वकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'किसी एक सर्वोद्दिष्ट

प्रयोजनके लिये मनुष्योंका पथ-प्रदर्शन करना ही नेतृत्व कहलाता है।' किन्तु प्रभावशालिताका अर्थ है 'अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये स्वयं बड़ा बनकर नियमित रूपसे दूसरोंकी क्रियाओंको नियन्त्रित कर देना।'

इस सम्बन्धमें लुइ एस० टर्मनने बच्चोंके नेताओंकी विशेषताओंका अध्ययन करते हुए देखा कि 'रूप, स्वास्थ्य, सामाजिक मान-मर्यादा, विद्यालयकी पढ़ाई, साहस और वाक्शक्तिमें ये बच्चोंके नेता या तो बहुत अच्छे थे या बहुत बुरे और उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ भी थीं जो अन्य बालकोंसे पूर्णतः भिन्न थीं।'

एल्टन् डी० पार्ट्रिजने कुछ ऐसे बालचर-नेताओंका अध्ययन किया जिन्हें स्वयं बालचरोंने ही चुना था और जिन्हें बालचर-शिक्षकने प्रमाणित भी किया था। देखनेमें आया कि ये नेता औरोंसे अधिक लम्बे, भारी, सुन्दर, अधिक हृष्ट पुष्ट और कसरती, अधिक बुद्धिमान् तथा अधिक स्वतन्त्र विचारके थे। पार्ट्रिजको यह भी ज्ञात हुआ कि ये बालचर-नेता आगे भी एक वर्षतक नेता बने रहे। फ्लौएड एच्० औलपोर्ट और लूथर एल० बार्ड आदिने अनेक नेताओंका परीक्षण करके उनके गुणोंकी तालिका दी है। इन गुणोंमें सुरूपता, सुस्वस्थता, अत्यन्त बुद्धिमत्ता, स्फूर्त्ति, नवीन कार्यकी प्रवृत्ति, लगन और लोगोंसे व्यवहार करनेकी योग्यता है। जे० ऐफ़० ब्राउनका कथन है

कि 'इन गुणोंके साथ सफल नेतामें यह भी गुण होना चाहिए कि वह जिस समूहका नेतृत्व करनेका प्रयत्न करता हो उसके द्वारा समर्थित और सम्मानित भी हो, और कहीं बाहरका न हो। साथ ही साथ उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ भी अवश्य होनी चाहिएँ जो उस समूहके अन्य लोगोंसे अधिक और भिन्न हों।

कुर्ट लेविन तथा उसके दो सहयोगियोंने एक सक्रिय नेताका परीक्षण करनेके लिये दस वर्षकी अवस्थाके तीन लगभग समान प्रकृतिवाले बालकोंके समूहोंको तीन प्रकारके प्रौढ़ नेताओंकी अध्यक्षतामें स्थापित किया। इनमेंसे एक नेता था 'औथेरीटेरियन' अर्थात् अधिनायक प्रकृतिका; दूसरा था लोकतन्त्रीय (डैमोक्रेटिक) और तीसरा था 'लायसे फ़ेयर' या तटस्थ अर्थात् किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करनेवाला और जो जैसा चाहे वैसा करने देनेवाला। इन तीनोंकी क्रियाओंका परीक्षण करनेपर ज्ञात हुआ कि अधिनायक प्रकृतिवाले नेताने अपने दलकी समस्त नीति और क्रियाएँ स्वयं निर्देशित कीं। लोकतन्त्रीय नेताके दलवाले छात्रोंने अपना कार्यक्रम स्वयं बनाया, नेताने केवल उन्हें सहायता और प्रोत्साहन प्रदान किया और तटस्थ नेता तो अपने दलवालोंसे पूर्णतः उदासीन रहता था और जबतक कोई स्वयं आकर कुछ पूछ न ले तबतक नहीं बोलता था।

इन तीनों प्रकारके नेताओंके अधीन काम करनेवाले

छात्रोंका परीक्षण करके देखा गया कि जो अधिनायक नेताके अधीन थे वे अन्य समूहोंकी अपेक्षा अधिक लड़ाके और झगड़ालू हो गए, यहाँतक कि उस समूहमें जो स्केपगोट (दब्बू) या सबके अपराधका दण्ड भोगनेवाला होता था उसे सब तङ्ग करते थे क्योंकि स्वेच्छाचारी नेताके अधीन जो उन्हें आत्मकुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन) या अतृप्ति होती थी उसकी कसर वे इस प्रकार निकालते थे। 'कुम्हारका कुम्हारीपर बस न चला तो गधेके कान जा उमेठे।' लेविनने यह देखा कि 'जिन बालकोंको अधिनायकके अधीन रहनेका अभ्यास हो जाता है वे स्वतंत्र वातावरण या परिस्थितिमें सरलतासे शीघ्र नहीं जम पाते।' अधिकांश बालकोंने लोकतंत्र प्रकृतिके नेतृत्वको सबसे अच्छा माना क्योंकि उसके अधीन अननुकूल सामाजिक व्यवहारके सबसे कम उदाहरण मिले।

सामाजिक मानस-शास्त्रमें नेतृत्वका अध्ययन इसलिये किया जाता है कि हम अवसर पड़नेपर उचित नेताका चुनाव कर सकें और बुरे नेताओंसे प्रभावित न होकर उनके कपट, छल और स्वार्थपूर्ण कार्योंको भली-भाँति समझ सकें।

जनता और जनमत

भीड़से भिन्न जनता (पब्लिक) वह मानव समूह है जिसके मत और जिसकी इच्छाएँ तो एक-सी होती हैं किन्तु जिसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि सब एक स्थानपर इकट्ठे ही हों। वे समाचार-पत्रों अथवा अन्य ऐसे साधनोंके द्वारा भी

एकमत हो सकते हैं। भीड़में तो एक व्यक्ति एक समय केवल एक समूहका ही सदस्य हो सकता है किन्तु जनताके सदस्यके रूपमें वह कई समूहोंका एक साथ सदस्य हो सकता है। वह एक साथ व्यापारी, पत्रकार, लेखक और किसान चारों प्रकारकी जनताका सदस्य हो सकता है। तीसरी बात यह है कि जनताके सदस्योंमें उस प्रकारकी उत्तेजना नहीं होती जो भीड़के सदस्योंमें होती है। इस प्रकारके और भी बहुतसे भेद किए जा सकते हैं और इस आधारपर यह माना जा सकता है कि जनताके सदस्य उतने विभावनशील (सजेस्टिबिल) नहीं होते जितने भीड़के सदस्य होते हैं। किन्तु यह भी निश्चय है कि भीड़के मतकी अपेक्षा जनताके मतका लोगोंपर अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि जनताकी संख्या भी बड़ी होती है। अतः उसका मत निश्चित बड़ा होता ही है।

'अवाज़े ख़ल्कको नक़्क़ारए ख़ुदा समझो'।

अर्थात् लोकवाणीको ईश्वरकी वाणी समझो। इसके अतिरिक्त दूसरे यन्त्र, जनताके पास चलचित्र, समाचारपत्र आदिके-द्वारा प्रभाव डालनेके साधन भी अधिक हैं।

वर्त्तमान समाज इतना अधिक जटिल हो गया है और उसमें इतने प्रकारकी जनता, इतने प्रकारकी संस्थाएँ और इतने प्रकारकी समितियाँ हैं कि उनका सम्बन्ध जानना आवश्यक है। प्रत्येक समिति या संस्थाके सदस्योंका अलग-अलग निश्चित मत होता है और अलग-अलग भावनाएँ तथा इच्छाएँ

होती हैं। बहुतसे व्यक्ति ऐसी बहुतसी संस्थाओंके सदस्य होते हैं जिनकी भावनाएँ परस्पर एक-सी होती हैं। इस प्रकार विभिन्न संस्थाओंके विचारोंमें सङ्घर्ष भी होता है और सम्पर्क भी और इस प्रकार एक विचार एक संस्थासे निकलकर दूसरी संस्थामें पहुँच जाता है। अतः जनताको कई जनताओंका समन्वय समझना चाहिए। इसलिसे जब हम जनमतकी बात कहते हैं तब उसका अर्थ यही होता है कि 'विभिन्न प्रकारकी संस्थाओं और समितियोंका यह सर्वमान्य और सर्वसामान्य मत है।' अतः जनमतका अर्थ 'उन विचारों और निर्णयोंका समूह है जो किसी एक जातिमें कार्यान्वित होते हों, निश्चित हों, स्थिर हों, और सामाजिक मान्यता प्राप्त हों अर्थात् जिसे अधिकांश लोग व्यवहार्य और आवश्यक समझते हों।'

मत (ओपीनियन) की व्याख्या करते हुए तार्दने उसमेंसे इच्छा और निर्णयशक्तिको पूर्णतः निकाल दिया है किन्तु लौवेल जैसे विद्वान् लोकमतको सामान्य सङ्कल्पके समान ही मानते हैं। सङ्कल्प तो वास्तवमें आत्मचेतन व्यक्तित्वकी क्रियाओंतक ही परिमित है किन्तु यह सम्भव नहीं है कि इस प्रकारका निश्चय समाजके बहुतसे लोग करते हों। अतः मतका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। श्मौलेरका मत है कि "जनमत उस लाखों तारोंवाली वीणाके समान है जिसे सब ओरसे अनेक प्रकारके वायुके झोंके बजा रहे हों।' जैसे ये

सब स्वर एक समान नहीं होते वैसे ही जनमत भी एक नहीं होते क्योंकि वे निरन्तर बदलते रहते हैं। इसी प्रकार किसी लोकमतको बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण या मूर्खतापूर्ण कहना भी व्यर्थ है क्योंकि यह तो उस मतको व्यक्त करनेवाली जनताकी योग्यतापर अर्थात् इस बातपर अवलम्बित है कि उसके अधिकांश सदस्य बुद्धिमान् हैं या मूर्ख।

जनमतका महत्त्व

जनमतका अत्यन्त प्रबल सामाजिक महत्त्व है। राज्य चलाने, नये नियम बनाने, शासकको सम्मति देने, अच्छे कार्यकी प्रेरणा देने, बुरे कार्यके दोष बताने आदि अनेक उद्देश्योंसे जनमतका बड़ा महत्त्व है। एक दो व्यक्तियोंके मत तबतक मान्य नहीं होते जबतक कि वे उस विशेष शास्त्रके विशेषज्ञ न हों। किन्तु यदि कोई बात लोकहितकी हो और उसे किसी सामान्य व्यक्तिने समझ लिया हो तो वह तभी प्रभावशाली हो सकती है जब उसके लिये लोकमत प्रस्तुत किया जाय। आजकल तो अधिकांश लोक-हितकारी कार्य लोकमतपर ही अवलम्बित होते हैं। यह क्या कम आश्चर्यकी बात है कि मानव जीवनके लिये गोदुग्धको अत्यन्त हितकारी जानते हुए भी और भारत जैसे देशकी लोकभावना मानते हुए भी स्वतंत्र देशमें गोवध रोकनेके लिये जनमत एकत्र करने और आन्दोलन करनेकी आवश्यकता आ पड़ी है। इसका शुद्ध कारण यह है कि शासनकी गद्दीपर पहुँचनेवाले शासकोंमें तो

इतने मदमत्त या मूढ़ हो जाते हैं कि वे उसका महत्त्व नहीं समझते अथवा वे किसी विशेष वर्गसे इतने भयभीत हुए रहते हैं कि नदा: कार्य करनेका उनमें साहस नहीं होता। ऐसी स्थितिमें जनमतकी आवश्यकता होती ही है।

समाजका मानस

पीछे बताया जा चुका है कि किसी संस्थाके सदस्य परस्पर मिलकर किसी एक सर्वमान्य उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये समिति बना लेते हैं। अतः ऐसे सङ्घटन केवल उद्देश्यवादी होते हैं। इनमेंसे कुछ संस्थाओं या समाजोंमें तो मनुष्य स्वयं उत्पन्न होते हैं और कुछमें वे लोकविभावन अथवा वक्ताके यशके कारण पहुँच जाते हैं। कभी-कभी तो लोग किसी संस्थाके सदस्य हो जानेपर भी उनके उद्देश्योंसे अपरिचित होते हैं। इन सबमें पारस्परिक सहयोग इसलिये होता है कि सभी सर्वसामान्य उद्देश्य प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील होते हैं। सभी सङ्घटनोंमें किसी न किसी मात्रामें किसी न किसी प्रकारके विभावनका प्रयोग किया ही जाता है। सेनामें जो व्यायाम कराया जाता है वह आगे चलकर ऐसा अभ्यास बन जाता है कि जिससे तत्काल आज्ञा पाते ही सभी योद्धा काम करने लगें। यही कार्य शिक्षामें भी होता है। इस प्रकारके सामाजिक अभ्यास हमारे व्यवहारकी रीतिको व्यवस्थित करनेमें बड़े सहायक होते हैं। इतना ही नहीं, प्रचारके द्वारा भी हमपर बहुत प्रभाव पड़ता है।

प्रचार

प्रचार शब्द आजकल बहुतसे बुरे-बुरे अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगा है, किन्तु वास्तवमें अपनी इच्छित दिशाकी ओर लोगोंकी प्रवृत्तियोंको बदल देनेका यह बहुत बड़ा कौशल है। येल विश्वविद्यालयके लियोनार्ड डब्ल्यू० डूबने प्रचारकी परिभाषा बताई है कि 'विभावन-द्वारा लोगोंकी प्रवृत्तियोंको अतः उनकी क्रियाओंको वशमें करनेके लिये व्यवस्थित प्रयासको प्रचार कहते हैं।' प्रचार और शिक्षा दोनोंमें प्रायः भेद किया जाता है अर्थात् प्रचार और शिक्षाको भिन्न समझा जाता है। न्यूयार्कमें लोकसंस्था (पीपिल्स इन्स्टीट्यूट) के सञ्चालक ऐवरेट डीन मार्टिनने कहा है कि 'शिक्षक तो उदार मस्तिष्क उत्पन्न करनेका प्रयत्न करता है और प्रचारक सङ्कुचित मस्तिष्क अथवा बन्द मस्तिष्कवाला उत्पन्न करनेका प्रयत्न करता है। बन्द इस अर्थमें कि प्रचारक यही प्रयत्न करता है कि मेरे सन्देशके अतिरिक्त अन्य संसार-भरकी सब बातोंको लोग अमान्य समझें।'

प्रचारका परीक्षण करनेके लिये नौर्मन सी० मेयर और उसके सहयोगीने अपने विश्वविद्यालयके दैनिक पत्रमें आस्ट्रेलियाके एक ऐसे प्रधानमन्त्रीके सम्बन्धमें २० सम्पादकीय लेख लिख दिए जिनके सम्बन्धमें पहले छात्र कुछ नहीं जानते थे। इन सम्पादकीय लेखोंमेंसे आधे प्रशंसात्मक थे और आधे निन्दात्मक। जब छात्रोंने पक्ष और विपक्षके सब सम्पादकीय

लेख पढ़े तो उस आस्ट्रेलियाई मन्त्रीके प्रति उनकी प्रवृत्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रीतिसे परिवर्त्तित हो गईं और यह परिवर्त्तन कई महीनोंतक बना रहा। अतः यदि विषय नया हो तो प्रचारके द्वारा थोड़े ही समयमें लोगोंकी प्रवृत्ति बदली जा सकती है यदि लोगोंके मनमें किसी प्रश्नके सम्बन्धमें कुछ दृढ़ भावनाएँ हों तो प्रचारकके लिये उन्हें बदलना अत्यन्त कठिन होता है।

पैन्सिलवेनिया स्टेट कौलेजके अध्यापक जौर्ज डब्ल्यू० हार्टमानने एक निराला ही प्रयोग करके विवेकपूर्ण तथा आवेगपूर्ण प्रचारकी सापेक्ष्य शक्तिकी तुलना की। एक राजकीय पदके लिये समाजवादी दलकी ओरसे हार्टमानने नगरके कुछ चुनाव-क्षेत्रोंमें मतदाताओंको कुछ फुसलानेवाले तर्क देकर उनसे कहा कि यदि आप लोग इन निधारित सिद्धान्तोंमें विश्वास करते हैं तो आप समाजवादीको मत दीजिए। नगरके अन्य दूसरे क्षेत्रकी प्रचार-सामग्रीमें उसने अत्यन्त भावोत्तेजक अभ्यर्थनाओंके साथ बेकारीके दिनोंका बड़ी विषादपूर्ण चित्र खींचा, शीघ्र ही युद्ध होनेकी सम्भावना घोषित की और बच्चोंके प्रति कर्त्तव्यकी दुहाई आदि दी। नगरके कुछ क्षेत्रोंमें इन समाजवादी अभ्यर्थनाओंमेंसे एकका भी प्रयोग नहीं किया गया। इन तीनोंका परीक्षण करके हार्टमानने परिणाम निकाला कि जिन क्षेत्रोंमें भावोत्तेजक अभ्यर्थनाएँ की गई थीं वहाँ ५०% की जहाँ विवेकपूर्ण अभ्यर्थनाकी गई थीं

वहाँ ३९% और जहाँ दोनोंमेंसे कोई भी अभ्यर्थना नहीं भेजी गई थीं वहाँ केवल २४% मतवृद्धि हुई। इस प्रकार यह निर्धारित हुआ कि प्रचारके लिये विवेकपूर्ण अभ्यर्थनाओंकी अपेक्षा भावोत्तेजक अभ्यर्थनाएँ अधिक प्रभावशाली होती हैं। इस प्रकार हार्टमानने वास्तविक परिस्थितिमें ऐसी पूरी और सच्ची विवरणी प्राप्त कर ली जैसा कोई भी पहले नहीं कर पाया था।

प्रचारके सम्बन्धमें हार्टमानसे पूर्व प्रयोग करनेवालोंमें विलियम डब्ल्यू० बिडिलने परीक्षण किया था कि हाई स्कूलके छात्र और कौलेजसे तत्काल निकले हुए लोग जितने ही अधिक प्रचारकी रीतियाँ और हथकण्डे समझ जाते हैं उतने ही कम वे प्रचारसे प्रभावित होते हैं। सन् १९३७ में कोलम्बिया विश्वविद्यालयके क्लाइड आर० मिलरने अपने कुछ सहयोगियोंके साथ प्रचार-विश्लेषण-संस्था (इन्स्टीट्यूट औफ़ प्रापेगेन्डा-ऐनेलिसिस) स्थापित की। इस संस्थाका उद्देश्य यह था कि लोगोंको अनेक प्रकारके प्रचारोंका विश्लेषण करने, समझने और उनका मूल्य आँकनेकी शिक्षा दी जाय और उसके द्वारा भयङ्कर और असामाजिक प्रचारोंसे लोगोंको बचाए रक्खे। इस संस्थाने अनेक प्रचलित प्रचार-कार्योंपर अपने विवरण प्रकाशित किए जैसे विद्रोहवादी, प्रतिक्रियावादी, अधिनायकवादी (फ़ासिस्ट) व्यावसायिक सङ्घ, विदेशी संस्कारें, श्रमिक सङ्घ आदि आदि।

इस संस्थाने प्रचारके सात हथकण्डे प्रकाशित किए हैं जो अब विश्वविख्यात हो चुके हैं—

१. नाम धरना : अपने शत्रुओंके लिये भावोत्तेजक नाम देकर उनके विरुद्ध प्रचार करना जैसे—वर्गवादी, अधिनायक-वादी, अभारतीय, विश्वासघाती, पाकिस्तानी, ग़द्दार आदि।

२. अत्यन्त प्रचलित सार्वभौम विशेषण देना : अर्थात् प्रिय व्यक्तियों या विषयोंके लिये अत्यन्त बड़े-बड़े शब्द प्रयोग करना जैसे—स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, देशभक्ति, शत प्रतिशत भारतीय आदि।

३. आरोप (ट्रान्सफ़र) : जो वस्तुएँ पहलेसे रुचिकर या अरुचिकर हों उनके साथ व्यक्तियों या विषयोंको सम्बद्ध कर देना जैसे—चुनावके समय कांग्रेसके झण्डेमें गांधीजीका चित्र लगा देना।

४. प्रमाणपत्र : जैसे विज्ञापनमें प्रमुख नेताओं, व्यक्तियों या समर्थकोंका प्रमाणपत्र प्रकाशित करना।

५. सीधा-साधा लोक-जन : अर्थात् इच्छित नेताको साधारण व्यक्तिके रूपमें चित्रित करना।

६. दोष-प्रदर्शन (कार्डस्टैकिङ्ग) : अर्थात् किसी व्यक्तिके विषयमें झूठी बातें या आँकड़े देना अथवा कथाका सत्य भाग छोड़ देना और झूठ बनाकर कहना।

७. बैंड वैगन : या सबको जलूसमें यह कहकर ले चलना कि सभी चढ़ रहे हैं।

इस संस्थाने विशिष्ट प्रचार-कार्यके और भी अनेक हथकंडोंका वर्णन किया है जिनमें किसी विचारको पुनः दृढ़ करनेके लिये बार-बार आवृत्ति; लोगोंके भय, कठिनाइयाँ, और निराशाओंको लेकर बातका बतङ्गड़ बनाना ; या सब विपत्तियों और कठिनाइयोंका दोष किसी एक दुर्बल अधिकारीके मत्थे मढ़ देना आदि हैं। किन्तु द्वितीय युद्धके समय जब पर्लहार्बरपर जापानियोंका अधिकार हो गया तब इस संस्थाने अपना काम इस आधारपर स्पष्ट कर दिया कि युद्धके दिनोंमें स्वदेश तथा स्वदेशसे सम्बद्ध प्रचारका विश्लेपण करना यदि वस्तुतः भयावह नहीं तो कमसे कम उचित भी नहीं है।

१४

लोकतन्त्रात्मक संस्थाएँ

आजकल अधिकांश लोग मानने लगे हैं कि लोकतन्त्रात्मक संस्थाएँ (डेमोक्रेटिक इन्स्टीट्यूशन्स) अधिक सफल नहीं हो पाईं। उसका कारण देते हुए कहा गया है कि 'एक तो आजकल अल्प-जनराज्य (औलिगार्की) अथवा दलतन्त्रकी महत्ता बढ़ रही है; दूसरे ठीक-ठीक लोगोंका प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता, क्योंकि अधिकांश जनता अशिक्षित है और ऐसी अनेक बाधाएँ समाजमें व्याप्त है जिनसे लोगोंको अपना ठीक-ठीक मत निर्णय करनेमें बाधा होती है और बड़ी सभाओंमें उचित सर्वमान्य सिद्धान्त प्राप्त करनेमें असुविधा होती है। प्रायः देखा गया है कि लोग जिसे नेता मान लेते हैं उसका इतना प्रचार हो जाता है कि उसकी वाणी वेदवाक्य समझ ली जाती है और जो व्यक्ति उसके विचारके

विरुद्ध स्वतन्त्र रूपसे कोई विचार प्रस्तुत करने लगे उसकी लोग खिल्ली उड़ाते हैं या उसे बोलने नहीं देते।'

कुछ लोगोंका मत है कि 'प्रतिनिधित्व ठीक न होनेके कारण ही लोकतन्त्र असफल हो रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश लोग अपढ़ और विचारशून्य होते हैं जिनकी प्रवृत्ति गतानुगतिक होती है। अतः चाहे कोई भी संस्था क्यों न हो वह कभी सीधे शासन नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त यह भी भय सदा बना रहता है कि जो लोग अधिक शक्तिशाली वक्ता होते हैं वे पूरे समाजको अपनी वक्तृत्व-शक्तिसे अपनी ओर खींच ले जाते हैं। कभी-कभी किसी नेताकी तपस्या और त्याग भी इसी प्रकार लोगोंकी विचार-शक्तिको कीलित कर देता है। इसीलिये सभी समाजोंमें नेता लोग ही शक्ति हथियाकर शासन करने लगते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि जनता अपने अपने कामोंमें इतनी व्यस्त रहती है कि उसे राज्यशासनकी रीति-नीतिमें भाग लेनेका अवकाश ही नहीं रहता इसीलिये वह उधरसे उदासीन रहती है। कुछ लेखकोंने इसे आलस्य और विरोध कहा है किन्तु वास्तवमें यह सब शिक्षा और समयकी अभाव ही है क्योंकि यदि उचित शिक्षा दी जाय और नेतृत्वके लिये अवकाश दिया जाय तो वर्त्तमान लोकतन्त्रमें बहुत परिवर्त्तन हो सकता है। दूसरी ओर जनताकी इस उदासीनतासे लाभ उठाकर पदलोलुप नेता लोग अधिक

शक्तिशाली हो जाते हैं, विशेषतः वे लोग, जिनमें शासन करनेकी स्वाभाविक भावना बनी होती है। बकूनिनने सत्य कहा है कि 'शक्ति पाकर स्वतन्त्रताके बड़ेसे बड़े प्रेमी भी स्वेच्छाचारी हो जाते हैं।' इसी बातको गोस्वामी तुलसीदासजी बहुत पहले कह आए है—'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'। सभी देशोंमें और सभी समाजोंमें इसके सैकड़ों उदाहरण प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त अधिकारीकी पूजा भी एक कारण है जिससे सभी लोक-तंत्रात्मक संस्थाओंमें अल्पजन-शासन फैल गया है। हमारे यहाँ शिक्षा-संस्था, व्यापार-संस्था, विज्ञानसभा, धर्मसभा जो भी हो सबके उद्घाटनके लिये हम लोग सदा किसी मंत्री, राज्यपाल या राष्ट्रपतिकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। यह वृत्ति स्वयं लोकतन्त्रात्मक भावनाके विपरीत है। इसी वृत्तिके कारण प्रत्येक मनुष्य अपने समाजके अन्य विद्वानों तथा गुणियोंकी उपेक्षा करता है और इस प्रकार सत्ताधारी, गुणहीन पुरुषोंके अहंको अनावश्यक प्रोत्साहन देकर उन्हें मदमत्त होनेमें सहायता करता है।

यह तो ठीक है कि कोई एक व्यक्ति सब लोगोंकी इच्छा या प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और यह आवश्यक भी है कि कुछ विशिष्ट कार्योंके लिये उस विषयके विशेषज्ञ एकत्र किए जायँ। किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि सभी क्षेत्रोंमें इसका परिणाम अच्छा नहीं होता है। साधारणतः सब प्रकारके लोकतन्त्र-शासनोंमें कुछ लोगोंके

हाथमें सत्ता चली जाती है और वे दलतन्त्रके नामपर शासन चलाने लगते हैं। यदि कोई व्यक्ति विरोध भी करता है तो नेता लोग उसपर अनुशासनकी कार्यवाही करके उसकी स्वतन्त्र रुचि दबा डालते हैं । लोकतन्त्रात्मक रीतिके लिये यह सबसे बड़ी विडम्बना है। लोकतन्त्र शासनको सफल बनानेके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक नये नियम या व्यवहारके लिये लोकमत संग्रह किया जाय और शासनके पदपर केवल उन विशिष्ट व्यक्तियोंको स्थान दिया जाय जो शासनके विभिन्न अङ्गोंके विभिन्न विषयोंके विशेषज्ञ हों अन्यथा यह निश्चय है कि शासन कभी सफल नहीं हो सकता।

विभिन्न देशोंमें चुनावकी पद्धति भी इतनी जटिल है कि कोई शान्तिप्रिय व्यक्ति स्वतन्त्र रूपसे बिना किसी दलका सदस्य हुए प्रतिनिधि नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो आजकल लोकतन्त्रके नामसे जितने शासन चल रहे हैं वे सब लोकतन्त्र न होकर दल-तन्त्र हैं और दलतन्त्रात्मक होनेके कारण अपने नेताओंसे प्रभावित हैं । इस प्रकार वे स्वेच्छाचारी निरंकुश शासनसे किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है । अतः लोकतन्त्रको सफल करनेके लिये पहली आवश्यकता है जनताको शिक्षित करना, दूसरी आवश्यकता है विशेष राजनीतिक विषयों और शासनकी कलासे सुपरिचित निष्पक्ष व्यक्तियोंको शासनके पदपर प्रतिष्ठित करना और पदलोलुप नेताओंसे जनताको सावधान करके वास्तविक लोकतन्त्र

भावनाका प्रचार और प्रसार करना। इस कार्य में मानस-शास्त्र यह सहयोग दे सकता है कि वह ऐसे सब उपाय सुझावे जिससे जनताके हृदयको सामूहिक रूपसे उत्तेजित करके विवेकपूर्ण दिशाकी ओर मोड़ दिया जा सके।

* विश्राम *







